हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में अस्मिता बोध की समस्या

(एम० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध)

शोध-निर्देशक
डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधकर्त्री
ली ग्यों उन

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067
1994

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भारतीय भाषा-केन्द्र
भाषा संस्थान

दिनांक : 19-7-1994

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि सुश्री ली ग्यों उन द्वारा प्रस्तुत "हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में अस्मिता बोध की समस्या" शीर्षक लघु शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रत्येक उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है । यह सर्वथा मौलिक है ।

डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल
निर्देशक
भारतीय भाषा-केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो० मैनेजर पाण्डेय
अध्यक्ष
भारतीय भाषा-केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन	I - VI
अध्याय : एक	1 - 47
- हिन्दी नवजागरण और सन् सत्तावन	
अध्याय : दो	48 - 95
- साहित्य, समाज और राजसत्ता	
अध्याय : तीन	96 - 131
- वैष्णवता और भारतवर्ष	
अध्याय : चार	132 - 163
- 'भारत स्वत्व' का अर्थ	
उपसंहार	164 - 165
संदर्भ ग्रन्थ सूची	166 - 170

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी नवजागरण और उसकी मूल समस्या - 'भारतीय अस्मिताबोध' - तत्कालीन बौद्धिक वर्ग में बहस का मुद्दा बनी रही थी। और वह अस्मिताबोध आज भी बौद्धिक वर्ग के अलावा नव भारतीय राष्ट्रीयता की पहचान करने वाले राष्ट्रवादियों का मुद्दा बना रहा है।तथा आधुनिक भारतीय अस्मिता और राष्ट्र के प्रश्न का विश्लेषण नव-जागरण के संदर्भ में इसलिए समीचीन लगता है कि आधुनिक भारत की अधिकांश सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समस्या की जड़ें नव-जागरण के दौरान चल रही प्रक्रियाओं में ही छिपी हुई हैं।

हिन्दी क्षेत्र में इस नवजागरण की शुरुआत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लेखन और कार्यों के माध्यम से हुई। और भारतेन्दु के साहित्य में यह भारतीय अस्मिता किस रूप में अभिव्यक्त हुई, इसका विश्लेषण ही प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध का विषय है।

यह लघु शोध-प्रबन्ध चार अध्यायों में विभक्त है --

प्रथम अध्याय में मुख्यत: इस पर अध्ययन किया गया है कि यूरोपीय रिनेसांस, बंगला पुनर्जागरण एवं पन्द्रहवीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन से भिन्न हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण के स्रोत तथा स्वरूप अपने मौलिक हैं। और इस हिन्दी नवजागरण का प्रारंभ सन् सत्तावन की राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम से नहीं, वरन् अंग्रेजी औपनिवेशिक संदर्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हिन्दी साहित्य में उदय होने से माने जाने का कारण तथा उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

दूसरे अध्याय में आधुनिकता और उपनिवेशवाद के ढाँचे के अंतर्गत साहित्य, समाज और राष्ट्र के बीच संबंध तथा उन सम्बन्धों में अस्मिताबोध की पहचान प्रकट होने का विवरण है ।

नवजागरण के दौरान भारतेन्दु के समकालीन महान सुधारक स्वामी दयानंद सरस्वती भारतेन्दु और नवजागरण की मौलिक चेतना से भिन्न अलग ढंग से भारतीय अस्मिता की तलाश कर रहे थे । तीसरे अध्याय में उनकी तुलना भारतेन्दु के अस्मिताबोध से की गई है, ताकि भारतेन्दु के अस्मिताबोध का अधिक सही स्वरूप प्रकट हो सके और धर्म, समाज एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में अस्मिताबोध को रेखांकित किया जा सके ।

चौथे तथा अंतिम अध्याय में भारतेन्दु की रचनाओं -`भारतेन्दु समग्र` के माध्यम से उन के `स्वत्व` के अर्थ का विश्लेषण किया गया है तथा उन की अस्मिता के निर्माण के लिए अपने युग और समाज आदि में विद्यमान अन्तर्विरोधों से टकराते हुए - विशेषकर अंग्रेजों के प्रभाव के साथ उस के अंदर निहित प्राच्यविद्यावादी विचारधारा से आत्म-संघर्ष करते हुए इन बाह्य संस्कृति के दबाव तथा देश के अंदर मौजूद प्राचीन संस्कृति के बीच अस्मिताबोध का निर्माण किस तरह, किस रूप में हुआ, इसका वर्णन किया गया है ।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीय नवजागरण तथा सांस्कृतिक उत्थान के स्वर से भरे हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास में `गोरा` की यह पुकार थी -`मैं दिन-रात जो (हिन्दू) होना चाह रहा था, लेकिन हो नहीं पा रहा था, आज मैं वही हो गया हूं । आज मैं भारतवर्ष

का हूं ।' आधुनिक युग के हिन्दी साहित्य में इस राष्ट्रीय जागरण के सिलसिले में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी नवजागरण की मूल समस्या भी 'स्वत्व निज भारत गहै' अर्थात् भारतीय अस्मिताबोध की समस्या थी ।

मगर उपनिवेशवादी शासन, स्वाधीनता तथा इसके साथ देश-विभाजन के बाद आज के जमाने में भी 'भारतीय अस्मिता' का सवाल क्यों हमारे सामने इतना सजग हो रहा है ?

भारत की जो बहु-सांस्कृतिक विशेषता पहले थी, वह 'भारत'-राष्ट्र को टुकड़े-टुकड़े करने में सबसे बड़ा मददगार साबित हुई । विशेषकर आजकल आजादी के बाद सिर्फ हिन्दू-मुसलमान के बीच ही नहीं, बल्कि अन्य धर्मों, जातियों, प्रदेशों तथा भाषाओं आदि-आदि की संस्कृतियों और उप-संस्कृतियों में अपनी-अपनी रास्तों पर चलने की आकांक्षा दिखाई देने लगी है । देश के अन्दर इन टुकड़ों के बीच 'हम भारतीय हैं' जैसे भारतीय अस्मिता - अर्थात् नवीन राष्ट्रीयता की तलाश में भारतेन्दु का महत्व इसलिए है कि उन्होंने अंग्रेजी उपनिवेशवाद तथा पश्चिम के प्राच्यविद्यावाद से खतरे में पड़ी हुई भारतीय संस्कृति की रक्षा से स्वत्व-रक्षा अथवा अस्मिता उन्नति का जो प्रयत्न किया, वह हिन्दी नवजागरण के सिलसिले में सांस्कृतिक उत्थान तथा राष्ट्रीय नवजागरण के रूप में विकसित हुआ ।

इस सांस्कृतिक अस्मिताबोध से विकसित नवीन राष्ट्रीयता की पहचान के लिए भारतेन्दु का जो संघर्ष अथवा प्रयत्न था, उन पर अंग्रेजी उपनिवेश-वादी शासन के अन्दर पश्चिमी शिक्षा तथा संस्कृति के प्रभाव से प्रेरित सांस्कृतिक उपनिवेशवाद - अर्थात् प्राच्यविद्यावादी विचारधारा से बड़ी बाधा हुई थी तथा आजादी के बाद आज भी इस प्राच्यविद्यावाद से यह

सांस्कृतिक उपनिवेशवाद हमारे सामने विद्यमान है । शायद पहले से अधिक प्रबल तथा गहरे रूप में । भारतेन्दु के जमाने में उपनिवेशवादी शासन सारे देश में नहीं फैल पाया था, लेकिन स्वाधीनता के बाद यह सांस्कृतिक उपनिवेशवाद लगभग सारे देश में फैला दिखाई देता है । भारतीय अस्मिताबोध को इससे बड़ा खतरा क्या हो सकता है ?

भारतीय अस्मिता की तलाश में सब से बुनियादी शर्त थी और है भाषा की । स्वत्व-रक्षा के संघर्ष में उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण ने भारतीय स्वत्व के लिए जो संघर्ष किया, उसका सबसे शानदार पहलू था प्रत्येक जातीय भाषा के विकास के साथ आपसी आदान-प्रदान के लिए एक अखिल भारतीय भाषा का विकास । यह एक अखिल भारतीय भाषा क्या हो सकती है ? यानी भारत जैसे बहुभाषी देश में भारतीय राष्ट्रीय साहित्य की पहचान कैसे की जाय ?

राष्ट्रीय साहित्य, विशेषकर राष्ट्रीय कविता की पहचान सब से अधिक भाषा से हो सकती है । 'डिस्कवरि ऑफ़ इंडिया' में जवाहरलाल नेहरू की बात सोचने योग्य है कि 'भारतीय साहित्य वही है जो अनेक भाषाओं में लिखा गया है ।' भारत में मुख्य इक्कीस भाषाएं हैं, केवल हिन्दी ही नहीं । ये इक्कीस भाषाएं, बोलियां तथा पड़ोसी देश की भाषाएं आदि सब भारतीयता की पहचान कराती हैं । इस भाषिक भिन्नता में हर भाषा की अपनी परंपरा, साहित्यिक परंपरा तथा अलग-अलग प्रदेशीय भाषाओं की उप-संस्कृतियों की परंपरा मौजूद है । इसलिए भारत में इस भाषिक भिन्नता से भारतीय राष्ट्रीय साहित्य की विशेषता भी बनती है ।

भाषा के संदर्भ में भारतीय अस्मिता संबंधी एक और सवाल यह है कि सांस्कृतिक उपनिवेशवाद तथा प्राच्य विद्यावाद से पैदा होने वाली

सबसे जटिल तथा विषम समस्या - अंग्रेजी भाषा से सम्बद्ध थी । यद्यपि आजकल हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारत में मुख्य इक्कीस भाषाओं के अलावा अंग्रेजी भी एक भारतीय भाषा बन गई है, फिर भी सवाल उठाया जाता है कि अगर अंग्रेजी को भारतीय भाषा के रूप में स्वीकार करें, तो क्या अंग्रेजी भाषा की संस्कृति भी भारतीय हो सकती है ? तथा भारतीय साहित्यकारों द्वारा अंग्रेजी में लिखे गये साहित्य में भारतीयता की पहचान हो सकती है ?

इस तरह हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में भारतीय अस्मिता की पहचान के लिए जितनी समस्याएं, सवाल और शक आदि उठाये गये हैं, उनके बावजूद भारतीयों के हृदय में गोरा पुकार रहा है -"आज मैं भारत-वर्ष का हूँ ।" गोरा की इस पुकार से हमें भारतीय अस्मिता के विकसित रूप अर्थात् नवीन राष्ट्रीयता की प्रेरणा मिलती है और उसका निर्माण मिलता है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य में । भारत जैसे विशाल तथा जटिल देश को एक राष्ट्र के रूप में बांधने वाली इस नवीन राष्ट्रीयता से भारतवर्ष के भविष्य की कल्पना की जाती है, जिसमें भौगोलिक विशालता से पैदा होने वाली व्यापक मानसिकता से सब को 'भारतीयता' के अंतर्गत शामिल करने की महान शक्ति है ।

अंत में, कुछ शब्द उन के लिए धन्यवाद प्रकट किये बिना इस लघु शोध-प्रबन्ध का समापन नहीं हो सकता । पहले हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रेरणा तथा शिक्षा देने के लिए हंकुक् युनिवर्सिटि ऑफ़ फ़ोरिन स्टाडिज् के हिन्दी विभाग और केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के दिल्ली केन्द्र के सभी अध्यापकों को धन्यवाद।तथा इस लघु शोध-प्रबन्ध के कार्य में शुरू से अंत तक मार्गदर्शन करने के लिए गुरु पुरुषोत्तम अग्रवाल जी

को विशेष धन्यवाद । एक और अनंत धन्यवाद उन को है जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे जन्म दिया, फिर उससे अधिक हर तरह की शिक्षा और असीम प्यार से मेरा जीवन परिपोषित किया । आशा करती हूँ कि अपने इस लघु दान से उन के जीवन में कुछ खुशियां ला सकूं - माँ को प्यार के साथ ।

- ली ग्यों उन

अध्याय - I

" हिन्दी नवजागरण और सन् सत्तावन "

उन्नीसवीं शताब्दी में सामन्तवाद के ह्रास तथा अंग्रेजों के आगमन के साथ भारत में मध्य युग समाप्त होने लगा । आर्थिक परिवर्तन, नई शिक्षा, यातायात के नए साधनों के फलस्वरूप आदमी और समाज नए ढंग से परिभाषित होने लगे । तथा समाज का आधुनिकीकरण आरम्भ होने लगा । तब से भारतीय मध्यकालीनता आधुनिक युगीन चेतना की ओर मोड़ने लगी है ।

लेकिन भारत जिस अंग्रेज से संपर्क हुआ, वह था साम्राज्यवादी तथा रोजगार के छल से आई हुई आधुनिक उपनिवेशवादी अंग्रेज । उपनिवेशवाद सिर्फ आर्थिक शोषण तक ही सीमित नहीं, बल्कि राजनीतिक प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए वैचारिक और सांस्कृतिक आक्रमण भी था । अंग्रेजी प्रशासन और उनकी संस्कृति से संपर्क होने के कारण कुछ आत्म सजग बुद्धिजीवियों ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, तर्क और मानववाद से प्रेरित होकर अपने देश, समाज और धर्म के बारे में चिन्तन करना शुरू किया जिस का परिणाम था नवजागरण ।

भारत में नवजागरण अंग्रेजी साम्राज्यवाद के इस वैचारिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आक्रमण के विरुद्ध तथा नयी यूरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति के बीच टकराहट से पैदा हुई महान शक्ति थी । तथा इस शक्ति से देश को धीरे-धीरे जगाने वाला एक महत्वपूर्ण आन्दोलन था । और इस जागृत चेतना के कारण इस नवजागरण के मूल में थी "स्वत्व की रक्षा" ।

उन्नीसवीं शताब्दी में इस जागृत चेतना के लिए पुनरूत्थान, पुनर्जागरण,

नवजागरण, सुधारवाद आदि अनेक नामों से बुलाया जाता है, इन में से "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण"(1977) नामक पुस्तक में डा0 रामविलास शर्मा जी द्वारा दिया गया "नवजागरण" शब्द आजकल सबसे प्रचलित हो गया। उन्होंने इस किताब में उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में जागृत चेतना से उत्पन्न व्यापक परिवर्तन को - सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक आदि स्तरों पर - नवजागरण कह दिया। इसके साथ शर्मा जी ने " हिन्दी नवजागरण" की संकल्पना भी करते हुए पहली बार हिन्दी नवजागरण जैसी धारणा को पेश किया है। और उसके वाहक थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

सामान्य रूप में उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के रूपन्तरणों को पश्चिम के दार्शनिक-सामाजिक परिभाषिकों की सहायता से व्याख्या करने की कोशिश की जाती है। क्योंकि "रिनेसांस", "एनलाइटेनमेण्ट" और" रिफार्मेशन" आदि जैसे यूरोप के सामाजिक-सांस्कृतिक परिभाषिकों तथा प्रत्ययों के अनुप्रयोग से 19वीं शताब्दी के भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन, जागृत चेतना तथा उनके स्वरूप और विकास-क्रम को अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सके।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय स्वयं अपने समय की नई सांस्कृतिक चेतना को महसूस करते थे और इसको यूरोपीय "रिनेसांस" जैसे समझते थे। पादरी अलेक्जेंडर डफ से एक बार उन्होंने कहा था; " मुझे ऐसा लगने लगा है कि यहाँ भारत में यूरोपीय रिनेसांस से मिलता जुलता कुछ घटित हो रहा है।"[1]

---

1. "आलोचना"-79 से उद्धृत, पृ0।

सिर्फ राममोहन राय ही नहीं, बल्कि सामान्यत: भारतीय नव-जागरण की तुलना यूरोपीय पुनर्जागरण अर्थात "रिनेसांस" से करने की संकल्पना चलती रहती है। यूरोप में " रिनेसांस" पन्द्रहवीं शताब्दी से शुरू हुआ, इटली में। "रिनेसांस" मध्यकालिकता के विरुद्ध सूर्य-केन्द्रित ब्राह्मण्ड तथा मनुष्य-केन्द्रित संसार की प्रतिष्ठा करने वाला ऐसा आन्दोलन था, जो यथार्थता की मध्यकालीन तथा धर्माचरित के बजाए आधुनिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या करता रहा। वैज्ञानिक चिन्तन का आरम्भ होने के फलस्वरूप मनुष्य का आविष्कार तथा जगत का आविष्कार इस तरह हुआ कि मनुष्य -केन्द्रित मानववादी संस्कृति का उत्थान भी हुआ। व्यक्ति-केन्द्रित होने के कारण इस में प्रारंभिक व्यक्ति-वाद के अंकुर भी फूटे तथा इससे व्यक्तित्व की आत्म-चेतना का आरम्भ हुआ। लोग चर्च के सिद्धान्त पर अंधविश्वास की सच्चाई में संदेह करने लगे और प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। इस तरह चर्च से विरुद्ध होने के साथ राष्ट्रीय राज्य का अभ्युदय भी हुआ जिससे राज्यशक्ति की वह धारणा उभरी जो धार्मिक वैधता एवं चर्च की मंजूरी से विमुक्त हो। संस्कृति - चक्र में इस आन्दोलन ने क्लासिकी पुरातनता का पुनरूत्थान किया। ऐतिहासिक क्रम में यह सारे यूरोप में पल्लवित या पतझारित होता हुआ उन्नीसवीं शताब्दी तक आ गया।

लेकिन भारतीय नवजागरण को यूरोपीय पुनर्जागरण अर्थात "रिनेसांस" से जोड़ने की धारणा में कुछ सुझाव देते हुए डा0 नामवर सिंह का कहना है, " उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण को "रिनेसांस" कहने में एक कठिनाई

तो यही है कि इस युग के भारतीय विचारकों और साहित्यकारों के प्रेरणा स्रोत यूरोप के पन्द्रहवीं शताब्दी के चिन्तक और साहित्यकार न थे। बल्कि इस के विपरीत प्रेरणा स्रोत के रूप में अधिकांश विचारक उस काल के थे जिसे यूरोप के एनलाइटेनमेण्ट का काल तथा उसके बाद का काल कहा जाता है"।[1]

एनलाइटेनमेण्ट में तर्क बुद्धि और ज्ञान सर्वोच्च मूल्य हुए। 17वीं शताब्दी में शुरू होकर यह आन्दोलन 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक चला जिस ने शिवत्व, न्याय और वैज्ञानिक ज्ञान अर्थात् सत्य को चरम मूल्य सिद्ध किया। इस ने समाज के सभी वर्गों और स्तरों को सम्बोधित किया तथा सामन्तीय विचारधारा के प्रभाव और असंगत बंधनों से मानव जाति को मुक्त करने वाली मुक्ति की भावना उभरी। इसके साथ एनलाइटेनमेण्ट ने सामन्तवाद के ह्रास से उत्पन्न आर्थिक परिवर्तन को अनिवार्य समझकर समाज-विकास की आर्थिक दशा की महत्ता पर भी जोर दिया।

उपर्युक्त यूरोपीय पुनर्जागरण के उदय, विकास और स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में हम भारतीय नवजागरण के प्रेरणा-स्रोत तो जरूर देखते हैं। पर यूरोपीय पुनरूत्थान अर्थात "रिनेसांस" अथवा "एनलाइटेनमेण्ट" से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी भारतीय नवजागरण की अपनी विशिष्ट पहचान बनती है। यूरोपीय जागरण तथा भारतीय जागरण की तुलना में सबसे बड़ा अन्तर इन दोनों के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में है। यूरोप को अपनी सभ्यता के विकास क्रम के अन्तर्गत

---

1. प्रो. नामवर सिंह - "आलोचना" अंक 79, पृ0 2

जागृति की चेतना मिली थी । पर भारत के नवजागरण की चेतना देश के अंदर पैदा हुई जागृति से अधिक बाहर से आए हुए साम्राज्यवादी दबाव के अंदर दूसरी जाति की संस्कृति से टकराते हुए उत्पन्न हुई । और यह टकराहट हुई थी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत ।

साम्राज्यवादी अंग्रेजों के भारत में आक्रमण करने के मुख्य दो कारण थे । एक तो राजनीतिक स्तर पर भारत को एक उपनिवेश बनाकर अपनी राज्य शक्ति को फैलाने के लिए था । दूसरा, आर्थिक स्तर पर इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति के बाद अंग्रेजों ने बाजार के फैलाव की आवश्यकता महसूस की । इसलिए अंग्रेजों ने भारत को अपने उपनिवेश बनाकर भारत में समान बेचना, भारत से कच्चा माल लेना तथा उसी कच्चा माल से इंग्लैण्ड में समान बनाकर फिर भारत में बेचना चाहा । अर्थात् अंग्रेजों को अपने बाजार के लिए भारत की जरूरत पड़ी थी ।

यह स्थिति भारत के अलावा तीसरी दुनिया - यानी एशिया, अफ्रिका तथा लैटिन अमेरीका के ऐतिहासिक विकास क्रम में भी दिखाई देती है । तीसरी दुनिया में काल तथा स्थानगत भिन्नता और प्रत्येक देशों की विभिन्न ऐतिहासिक परंपरा एवं स्थितियों के बावजूद भी अंग्रेजी, अमेरीकी, जापानी और फ्रांसीसी आदि साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक शासन के अंदर उत्पन्न इस जागृत चेतना ने विशेष रूपधारण किया । तथा इस तीसरी दुनिया में उपनिवेशवाद के खिलाफ चलने वाले सांस्कृतिक-राजनीतिक संघर्षों ने कुछ सामान्य रूप प्रदान किया, जो यूरोपीय पुनरूत्थान तथा एनलाइटेनमेण्ट से भिन्न है ।

इस तरह यूरोपीय रिनेसांस तथा एनलाइटेनमेण्ट से भिन्न भारतीय नवजागरण उस औपनिवेशिक संदर्भ में विकसित हुआ, जिस का रूप एशिया-अफ्रिका जैसी तीसरी दुनिया के ऐतिहासिक परंपरा से ज्यादा निकट है, यूरोपीय संदर्भ या परंपरा से नहीं । इसलिए भारतीय नवजागरण की चेतना का विश्लेषण यूरोपीय पुनरूत्थान के सिलसिले में नहीं, बल्कि उस का सही विश्लेषण जो उस समय या बाद के एशिया, अफ्रिका और लैटिन अमेरीका के समाजों में भी अभिव्यक्त हो रही थी, उस औपनिवेशिक दौर के अंतर्गत ही सही लगता है । अर्थात् भारत की विशिष्ट ऐतिहासिक परंपरा और उपनिवेशवाद के सांस्कृतिक प्रभुत्व से भारतीय नवणागरण की प्रकृति और सीमाओं का निर्धारण किया जाना चाहिए ।

इस संदर्भ में ध्यान दिया जाता है बंगाल के प्रभावशाली लेखक बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय की ओर । बंकिम चंद्र जी राजा राममोहन राय से भिन्न भारतीय नवजागरण का संबंध यूरोपीय "रिनेसांस" से नहीं, वरन् 15वीं शताब्दी में भारत के भक्ति आन्दोलन से जोड़ते थे । अपने निबंध "वाङ्लार इतिहास संबंधी कयेकटि कथन "(1880) में उन्होंने लिखा ; " यूरोप कितना पहले सभ्य हुआ ? सिर्फ चार सौ साल पहले पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप हम से अधिक असभ्य था ।सभ्यता यूरोप में एक घटना से आयी । अकस्मात् यूरोप ने चिर-विस्मृत ग्रीक संस्कृति का पुनराविष्कार किया ।.....पेट्रार्क, लूथर, गैलिलियो, बेकन; अकस्मात् यूरोप का भाग्योदय हो गया । हमारे यहाँ भी एक बार वही दिन आया था । अकस्मात् नवद्वीप कवि धर्मतत्वविद् पण्डित । दर्शन में रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर, जगदीश; स्मृति में रघुनन्दन एवं उनके

अनुयायी । फिर बंगला काव्य का जलोच्छ्वास । विद्यापति, चण्डीदास, चैतन्य के पूर्वगामी । किन्तु उसके बाद जो चैतन्य परिवर्तिनी बंगला कृष्ण-विषयक कविता लिखी गयी वह अपरिमेय तेजस्विनी और जगत में अतुलनीय है । यह सब कहाँ से आया ? हमारा यह "रिनेसाँस " कैसे घटित हुआ ? सहसा जाति की यह मानसिक उद्दीप्ति कहाँ से हुई ?"[1]

इस कथन से दिखाई देता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण को भारतीय परंपरा के अंतर्गत पन्द्रहवीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन से जोड़ने की संकल्पना भी आती है, यद्यपि बंकिम के इस कथन का प्रसंग बंगाल के इतिहास तक ही सीमित है ।

पन्द्रहवीं शताब्दी में इस्लाम के आगमन पर नए परिवेश के फलस्वरूप भारत में सैनिक टकराहट के साथ सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक आदि टकराहट भी देखने को मिलती है । इस्लाम के आगमन से तत्कालीन हिन्दू समाज, संस्कृति तथा साहित्य आदि में अनेक गंभीर समस्याएं खड़ी हुई थीं, वे समस्याएं 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों के आगमन पर भारत में फिर से नए परिवेश के अंतर्गत सांस्कृतिक नवजागरण के दौरान में भी दिखाई देती है । इसी कारण भारतीय नवजागरण के प्रेरणा-स्रोत के रूप में भक्ति आन्दोलन को नजर अन्दाज करना उचित न होगा ।

लेकिन यद्यपि भक्ति आन्दोलन तथा भारतीय नवजागरण के बीच

---

1. डा. नामवर सिंह ," आलोचना" अंक 79 से उद्धृत, पृ० ।

कुछ समानताएं दिखाई देती हैं, फिर भी भक्ति आन्दोलन को भारतीय नव-जागरण के संदर्भ में या उसके पुनर्निर्माण के रूप में देखना कुछ कारणों से उचित नहीं माना जाता है। पहले, 15वीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन तथा 19वीं शताब्दी के नवजागरण के बीच ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अंतर्वस्तु की भिन्नता है। यानी भक्ति आन्दोलन से भिन्न भारतीय नवजागरण अंग्रेजी साम्राज्यवाद के अंतर्गत आधुनिक उपनिवेशवादी दौर की उपज होती है। दूसरा कारण है कि नवजागरण के पुरस्कर्ता और विचारक- अर्थात् "भद्रलोक"का वर्ग स्वरूप भक्ति कवियों से भिन्न है। यह नया भद्रलोक भक्ति कवियों की तरह सामान्य लोक के बीच से नहीं आया था और इसलिए लोक जीवन के साथ घुल-मिल पाने में भी सफल न हो सका था।

इस संदर्भ में "आलोचना" पत्रिका के उसी अंक में नामवर जी की दूसरी बात थी कि " भारत के 19वीं शताब्दी का नवजागरण यूरोप के "एनलाइटेनमेण्ट" अथवा "ज्ञानोदय" की चेतना से अधिक निकट प्रतीत होता है और पन्द्रहवीं शताब्दी का नवजागरण "रिनेसांस के तुल्य।"

इस बात से फिर समस्या खड़ी हो जाती है कि "रिनेसांस" किसे कहा जाय - 15वीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन को या 19वीं शताब्दी के नवजागरण को ? दोनों के बीच अंतर को ध्यान में रखकर डा० रामविलास शर्मा जी ने पन्द्रहवीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन के लिए " लोक जागरण" और उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक जागरण के लिए " नवजागरण" शब्दों का प्रयोग भी किया है।

भारतीय नवजागरण के संबंध अभी तक जो कुछ कहा गया, उनके सहारे अगर उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण को परिभाषित करना है, तो इसमें इतनी कठिनाई न होगी । अभी हमें देखना यह है कि भारतीय नवजागरण की प्रक्रिया में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु युग के हिन्दी नव-जागरण को प्रेरणा स्रोत कहाँ से मिला ?

अंग्रेजों के चरण भारत में पहले पहल बंगाल में ही जमे थे । बंगाल में अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव सब से पहले तथा गहरा पड़ा था । इसलिए यह अनिवार्य था कि भारतीय नवजागरण के सिलसिले में इस जागृति की चेतना बंगाल में ही सर्वप्रथम उभरी । उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा तथा संस्कृति के संपर्क में आने से नए बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हो रहा था - जैसे राजा राममोहन राय, बंकिमचंद्र, ईश्वर चंद्र गुप्त, रंगलाल वंद्योपाध्याय, माईकेल मधुसूदन दत्त और नवीन चंद्र सेन आदि । ये लोग १९वीं शताब्दी के नवजागरण के पुरस्कर्ता और विचारक थे तथा नए शिक्षित मध्य-उच्च वर्ग के थे, जिन लोगों के लिए बंगला भाषा में " भद्रलोक" की संज्ञा दी गई है ।

केवल बंगाल में ही नहीं, मराठी भाषी क्षेत्र में भी हिन्दी क्षेत्र के पहले से नवजागरण की चेतना उभरी । इसलिए यह विचार करना अनिवार्य है कि हिन्दी नवजागरण पर बंगला तथा मराठी नवजागरण का प्रभाव पड़ा हो । भारतेन्दु और उनके मण्डल के लगभग सभी लेखक बंगला के अलावा मराठी भाषा भी जानते थे और इन दोनों का हिन्दी में अनुवाद भी करते थे । इसलिए हिन्दी नवजागरण संबंधी उनके चिन्तन में बंगला तथा मराठी नवजागरण की भूमिका

को एकदम नकारा जाना उचित नहीं होगा । विशेषकर हिन्दी नवजागरण तथा भारतेन्दु पर बंगला नवजागरण के प्रभाव को ।

उन्नीसवीं शताब्दी के ठीक मध्य-सन् 1850 ई॰ में हिन्दी साहित्य में आधुनिक जीवन-बोध के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ, जब से हिन्दी साहित्य की इतिहास में आधुनिक युग की शुरुआत मानी जाती है । पन्द्रह वर्ष की उम्र में भारतेन्दु अपने परिवार के साथ जगन्नाथ धाम गये। उस समय बंगाल में नए जीवन-दर्शन उद्बुद्ध हो चुके थे । उस के सामाजिक जीवन में नए ढंग की हलचल दिखाई देने लगी थी, और उगते हुए साहित्य के विविध अंगों का सर्जन भी होने लगा था । इस नयी जागृत चेतना ने भारतेन्दु पर बड़ा प्रभाव डाल दिया । बंगाल नवजागरण तथा भारतेन्दु के बीच संबंध के बारे में उसी "आलोचना" पत्रिका में नामवर सिंह ने स्पष्ट रूप में कहा कि " यह न भूलना चाहिए कि भारतेन्दु का सीधा संबंध ईश्वर चंद्र विद्यासागर, केशव चंद्र, सेन, बंकिम चंद्र, राजेन्द्रलाल मिश्र और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी से था ।"

लेकिन यद्यपि बंगाल में नवजागरण की चेतना हिन्दी प्रदेश से पहले उभर कर उस का प्रभाव भारतेन्दु युग के हिन्दी नवजागरण पर पड़ा हो, फिर भी क्या भारतेन्दु युग के हिन्दी नवजागरण को बंगला नवजागरण का पुनर्निर्माण मानना उचित होगा ? अगर इस तरह 19वीं शताब्दी में बंगला तथा मराठी नवजागरण-अर्थात् राजा राममोहन राय से प्रारम्भ हुए भारतीय नवजागरण की परम्परा के अंदर उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु युग के हिन्दी नवजागरण

को जोड़ते हैं,तो भारतीय नवजागरण की दिशा और स्वरूप के आलोक में हिन्दी नवजागरण की अहमियत क्या थी ?

इन सवालों का जवाब देने के लिए सब से पहले हिन्दी नवजागरण तथा उसके वाहक भारतेन्दु हरिश्चंद्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखना होगा ।

भारतेन्दु एक ऐसे समय की उपज थे जो भारत के राजनीतिक,सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अस्थिरता का समय था । भारतीय मानस की चेतना मध्यकाल से आधुनिक युग की ओर मोड़ने वाला संक्रमण-काल था । इसके साथ भारतेन्दु का युग था अंग्रेजी साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत । भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम असफल हो चुका था । इसके कारण यह युग पराधीनता के कठोर एहसास का समय था । तथा इसके पहले राजा राममोहन राय ने "नवजागरण" की मशाल भी जला दी थी । यह युग एक नई सभ्यता और संस्कृति के दबावों तथा चुनौतियों को बुद्धि और विवेक के साथ झेलने तथा स्वीकार करने का समय था । पर शिक्षा और उद्योग लगभग नहीं थे । विज्ञान नहीं था । मानवीय गरिमा तथा तर्क-बुद्धि लगभग नहीं थी । सामन्तीय व्यवस्था और धार्मिक साम्प्रदायिकता परिव्याप्त थीं । इन सब के साथ भारत एक देश था, राष्ट्र नहीं । अत: भारतेन्दु के युग में "सुधारण" एवं " नवजागरण" के घटक तत्वों का विचित्र तालमेल था; न केवल रिफोर्मेशन और न ही सिर्फ एनलाइ-टेनमेण्ट ।

भारतेन्दु का युग अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत भारत के अपने

अतीत, वर्तमान तथा भविष्य को आंकने, पहचानने तथा उनके संदर्भ में सही परिप्रेक्ष्य के साथ क्रियाशील होने का समय था । और इस क्रियाशीलता के मूल में थी स्वत्व की रक्षा ।

इस तरह यदि भारतीय नवजागरण की परंपरा में हिन्दी नवजागरण की अहमियत का आधार हम पहले भारतेन्दु के समय की जटिल पृष्ठभूमि में देख सकते हैं, तो हिन्दी नवजागरण की दूसरी अहमियत भारतेन्दु के अपने व्यक्तित्व की विशेषता में देख सकते हैं । भारतेन्दु का युग स्थिर शांति का नहीं था, वरन् अन्तर्विरोधों से भरा हुआ युग था । इसलिए भारतेन्दु के व्यक्तित्व तथा साहित्य में कई जगहों पर विरोधाभास दिखाई देते हैं । जैसे भारतेन्दु आधुनिकीकरण के समर्थक थे । इसलिए उन्होंने साहित्य को रीतिकालीन आध्यात्मिकता और विलास से हटकर समाज की स्थितियों से- सामाजिक परिवर्तन और उसकी हलचलों से संयुक्त किया । पर आधुनिक होते हुए वे अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा परंपरा पर आदर रखने वाले परंपरावादी भी थे ।

मगर इन अंतर्विरोधों और विरोधाभासों के अंदर भारतेन्दु ने साधारण जनता की मानसिकता को पहचानते हुए साहित्य को समाज के वास्तविक रूपों, चुनौतियों और चिन्ताओं से जोड़कर अपना ही मार्ग चलाया था । इससे भारतीय नवजागरण की परंपरा में हिन्दी नवजागरण की अहमियत कठोर रूप में बनती है । तथा उन्होंने अपने समय में जो परंपरा आगे बढ़ाई, उसे वस्तुनिष्ठता के साथ पहचानना आज के संदर्भ में भी एक मुख्य चुनौती होती है ।

अंग्रेजी उपनिवेशवाद ने एक तरफ भारतीयों को भारतीय मध्यकालीन चेतना

से आधुनिकता की ओर जगाने में सहायता दी थी । इससे भारतीयों को आदमी, समाज तथा धर्म के बारे में नई दृष्टि से देखने का प्रेरणा मिला था। तो दूसरी तरफ इस जागृत चेतना से भारतीय लोगों को अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के विरूद्ध उठ खड़े होने में भी मदद दी थी । अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत भारतीय लोगों को महसूस करना या "खतरा" । एक तो अंग्रेजों द्वारा आई नई संस्कृति से टकराते हुए उत्पन्न आन्तरिक खतरा, जिससे सांस्कृतिक नवजागरण चलाया जाता है । अपनी संस्कृति की पहचान, स्वत्व की रक्षा तथा अस्मिताबोध की भावना जैसी आकांक्षा पैदा होती है । दूसरी बाह्य खतरा; विदेशी शासन के अंतर्गत राजनीतिक पराधीनता की भावना से राजनीतिक स्वाधीनता संग्राम का बीज डाल दिया जाता है ।

सम्भवत: भारतीय नवजागरण के सिलसिले में सन् सत्तावन के इस मुक्ति-संग्राम का घटित होना अनिवार्य समझकर डा० रामविलास शर्मा जी ने अपनी यह धारणा स्थापित की --" हिन्दी प्रदेश में नवजागरण सन् 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है । " तथा " सन् 57 का स्वाधीनता संग्राम हिन्दी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है । दूसरी मंजिल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग ।"[1] पर शर्मा जी की इस धारणा में यह जांचने की जरूरत है कि सत्तावन की क्रांति से हिन्दी नवजागरण की परम्परा का वास्तव में कोई संबंध बैठता है या नहीं ?

---

1. डा.रामविलास शर्मा- "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण" पृ० 9,12

शर्मा जी ने उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु के यहाँ नवजागरण का सीधा संबंध सन् सत्तावन के राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम से जोड़ते हुए अपनी उसी पुस्तक में इस संग्राम की छः विशेषताएं बतायीं । सत्तावनी संग्राम तथा हिन्दी नवजागरण के बीच संबंध को समझने के लिए इन विशेषताओं को देखना आवश्यक होगा । पहली विशेषता उन्होंने बतायी कि यह सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाया गया था । राष्ट्रीय एकता का यह उद्देश्य भारतीय सेना के नेताओं ने अपने सामने रखा था, सामन्तों नहीं । दूसरी है कि राज्य सत्ता की मूल समस्या सामन्तों के हित में नहीं, जनता के हित में हल की गई थी । तीसरी विशेषता इस स्वाधीनता-संग्राम का सामन्त विरोध पक्ष है । चौथी यह है कि इस का नेतृत्व उन किसानों ने किया जो फौज में सिपाहियों और सूबेदारों के रूप में काम कर रहे थे । धर्म और वर्ण की सीमाएं तोड़कर ये जो लाखों किसान एक ही लड़ाई में शामिल हुए, उस का बड़ा गहरा असर उन की संस्कृति पर पड़ा और यह असर उन के लोकगीतों में दिखाई देता है । पाँचवीं विशेषता इस का असाम्प्रदायिक राष्ट्रीय रूप था । सन् सत्तावन का स्वाधीनता - संग्राम अंग्रेजों द्वारा प्रेरित सम्प्रदायवाद की सब से बड़ी पराजय था । छठवीं विशेषता यह है कि यह संग्राम हिन्दी भाषी प्रदेश में चलाया गया ।

ध्यान खींचने की बात है कि सत्तावनी संग्राम की उपर्युक्त विशेषताओं में से सबसे प्रमुख राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य से उत्पन्न राष्ट्रीय एकता थी। पर सामान्यतः भारतीय तथा भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण के साहित्यकारो

में सत्तावनीं क्रांति के बारे में उल्लेख के सिवा कुछ नहीं मिलता, यद्यपि सारे देश पर इस का गहरा प्रभाव था । आमतौर पर भारतीय नवजागरण के दौरान साहित्यकारों में सबसे प्रमुख विरोधाभास यही माना जाता है कि इन लोगों ने अपनी जागृत चेतना के बावजूद भी देश की स्वाधीनता तथा सत्तावन के स्वाधीनता - संग्राम के बारे में अपने साहित्य में उल्लेख से अधिक कुछ नहीं लिखा, या कभी उल्लेख भी नहीं किया ।

राजा राममोहन राय भारतीय नवजागरण के प्रतिनिधि तथा आधुनिक चेतना सम्पन्न बौद्धिक नेता थे । वे भारत को अंधविश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त करके अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से आगे बढ़ाना चाहते थे । वे किसानों के संकट को दूर करने की भी चिन्तित थे । पर उन्होंने न केवल स्वाधीनता की बात नहीं उठायी, बल्कि उस समय के ब्रिटिश राज्य की अच्छाइयों की प्रशंसा भी की । राममोहन राय से अधिक बंगाल के प्रसिद्ध कवि ईश्वर चंद्र गुप्त बंगाल साहित्य में देश भक्ति पर कविताएं लिखने वाले प्रथम कवि थे । वे सन् सत्तावन के राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम के दौरान जीवित भी थे । पर उन्होंने उस क्रांति पर कुछ कविताएं लिखी थीं, जिन में उन्होंने सिपाहियों और उन के नेताओं को कोसा है तथा इससे अधिक अंग्रेजों की विजय पर हर्ष भी प्रकट किया है । बंगाल के सबसे अधिक प्रभावशाली लेखक बंकिम चंद्र को देखें, तो उन्होंने संन्यासी विद्रोह पर आधारित अपने प्रसिद्ध उपन्यास " आनन्द मठ" (1882) में मुसलमानों के विरुद्ध सन्यासियों के सशास्त्र स्वातंत्र्य युद्ध का चित्रण करके अंत में अंग्रेजी राज की उपयोगिता की बात की ।

इस तरह सन् 1857 ई॰ के समय ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग जो अंग्रेजी राज को विदेशी होते हुए भी स्वदेशी शासन से अच्छा मानता हो या कम से कम अच्छा बताता हो, बंगाल में अधिक दिखाई देता है । बंगाली बुद्धिजीवी लोगों तथा लेखकों के किसी भी भाग ने सन् 1857 ई॰ के समय सिपाहियों और उनके नेताओं के वीर प्रयत्नों को कोई विशेष महत्व नहीं दिया । बुरी होते हुए भी सच्ची बात तो यह है कि बंगाली बुद्धिजीवियों और लेखकों ने न केवल सन् सत्तावन के राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम का विरोध किया, बल्कि अंग्रेजों के पक्ष में हाथ भी दिया था । पर इससे अधिक खराब बात यही थी कि उन लोगों के लेखन में अंग्रेजों के विरोध के स्थान पर मुसलमान के विरोध तथा हिन्दुवाद का मुखर स्वर सुनाई देता था ।

लेकिन ऐसे मध्य और उच्च वर्गीय बुद्धिजीवी लोग केवल बंगाल में ही नहीं, सभी प्रदेशों में थे, जिन्होंने उस स्वातंत्र्य संग्राम में सिपाहियों के विरुद्ध विदेशी शासकों का हाथ दिया था । यह स्थिति हिन्दी भाषी क्षेत्र में भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के लेखकों में भी दिखाई देती है । भारतेन्दु मण्डल के एक प्रमुख साहित्यकार बदरीनारायण उपाध्याय " प्रेमधन" ने " भारत सौभाग्य "(1889) में 1857 के विद्रोह को शासक वर्ग के नजरिए से देखा । उन्होंने अपने नाटक में ब्रिटिश राज्य को देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने वाले पात्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए दिखाया कि सैकड़ों वर्षों के दमन के बाद देश ने अब कैसी राहत की सांस ली है । इसके अलावा वे अंग्रेजी राज्य की बरकतों से प्रभावित होकर अनेक सुख-सुविधाओं को देने वाले अंग्रेजी राज्य के प्रति आभार भी प्रकट करते हैं -

"सत प्रबन्ध दिनकर दिनकर नास्यो रजनी दुख ।
धूप सान्ति की फैली लखि बिकस्यो सरोज सुख ।।
धन्य तिहारो राज अरी मेरी महारानी ।
सिंह अजा संग पियत जहां एकहि थल पानी ।।
रेल यान परमाय अंधरी रातहुँ निधरक ।
अंध, पंगु, निसहाय जात अबला बाला तक ।।" [1]

इस तरह हिन्दी क्षेत्र के अलावा उस समय दूसरी भाषाओं के रचनाकार भी सन् सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम को मात्र कुछ उल्लेखों से आगे अपने रचना-कर्म में महत्व नहीं देते, तथा इससे अधिक अंग्रेजी शासन और शासकों की प्रशंसा भी करते थे । सोचने की बात यह है कि उस समय जनता की सहानुभूति क्रांति के पक्षवालों को ही मिली थी । इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी में नए शिक्षित मध्य-उच्च वर्ग के बुद्धिजीवियों को प्रारंभ में नवजागरण के पुरस्कर्ता और विचारक होते हुए भी इस तरह आम जनता की मानसिकता से दूर रहने के कारण नव-जागरण की भावना को सारे देश में फैलाने में सफलता न मिली । इसका कारण इस बुद्धिजीवी वर्ग के वर्ग स्वभाव में देखा जाता है । ऐसी बुद्धिजीवी समुदाय जो उस समय पर्याप्त रूप में प्रौढ़ हो चुका था, वह एक तरफ सामान्य लोक के बीच से न आने के कारण अपने आप को अपनी मध्य-उच्च वर्गीय नीति से विचलित नहीं होने दे सकता था । इसलिए यद्यपि उन बुद्धिजीवियों में से कुछ लोगों के

---

1. प्रेमघन -" हार्दिक हर्षादर्श", जो "प्रेमघन सर्वस्व" में संकलित, पृ0273

विचार में सुधार, रूढ़ियों को हटाने और देश-भक्ति आदि जैसे लोकोन्मुख अवश्य हुए, फिर भी वे अपने लोक जीवन के साथ घुल-मिल पाने में सफल नहीं हो सके । तथा दूसरी तरफ यह बुद्धिजीवी वर्ग अपने अंग्रेजी मालिकों के प्रति भी वफादारी को विचलित नहीं कर सकता था । अर्थात अंग्रेजी राज के शासन की प्रशंसा करनी अथवा स्वाधीनता - संग्राम का विरोध करने वाले आधार से ये बुद्धिजीवी लोग लोक के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाये । इसके फलस्वरूप उन लोगों ने नवजागरण की चेतना को सारे देश में फैलाने में असफल होकर केवल कुछ -कुछ नए शहरों और नगरों तक ही सीमित कर दिया ।

देश के इस हालत में भारतेन्दु भी अपने समय के अन्य बुद्धिजीवियों से इतना भिन्न न हुए दिखाई देते हैं । यद्यपि संग्राम के लगभग दस साल के बाद भारतेन्दु ने " कवि वचन सुधा" नाम की पत्रिका में " लेवी प्राण लेवी " (1870) नामक प्रसिद्ध ब्रिटिश विरोध लेख छपवाया, फिर भी भारत के पहले मुक्ति संग्राम अथवा उसके प्रभाव की चर्चा भारतेन्दु के लेखन में लगभग नहीं है । इससे अधिक क्रांति के बाद वे न केवल महारानी विक्टोरिया, प्रिन्स आफ वेल्स और लार्ड रिपन आदि की प्रशंसा करते थे, बल्कि प्रिन्स आफ वेल्स के टाइफाइड पीड़ित होने पर उन्होंने कविता लिखी -

" हम हैं भारत की प्रजा, सब विधि हीन मालीन ।
तुम सों यह बिनती करत, दया करहु लखि दीन ।।" [1]

---

1. भारतेन्दु समग्र , पृ0 193

तथा वही प्रिन्स आफ वेल्स जब सन् 1875 में भारत आये, तो उनके स्वागत की कविता भी लिखी -

"स्वागत स्वागत धन्य तुम भावी राजधिराज ।
भई सनाथा भूमि यह परसि चरण तुव आज ।।
"राजकुंअर" आओ इते दरसाओ मुख चंद ।
बरसाओ हम पर सुधा बाढ़यौ परम आनंद ।।
नैन बिछाए आपु हित आवहु या मग होय ।
कमल पाँवड़े ये किए अति कोमल पग जोय ।" [1]

इसीकारण कभी भारतेन्दु अंग्रेजी शासन के पक्षी वाले जैसे भी माने जाते हैं । और ब्रिटेन की राजनीतिक सत्ता के खत्मे तथा पराभव का भाव उनके साहित्य में न होने से भारतेन्दु की राजभक्ति का खण्डन भी कभी-कभी किया जाता है ।

इस तरह यद्यपि अंग्रेजों के प्रति तत्कालीन बुद्धिजीवियों तथा स्वयं भारतेन्दु का यह आचार हिन्दी नवजागरण की अनेक सीमाओं में से एक माना जाता है, फिर भी तत्कालीन युग संदर्भ में उन लोगों की अंग्रेजों के प्रति यह सीमित प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी कही जाती है । भारतेन्दु स्वयं कहते हैं -

"कठिन सिपाही द्रोह-अनल जा जनबल नासी ।
जिन भय सिर न हिलाई सकत कहूँ भारतवासी ।" [2]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 216
2. वही पृ0 255

अर्थात भारतेन्दु ने सत्तावनी क्रांति को गलत नहीं कहा तथा उस का विरोध भी नहीं किया, बल्कि बतलाया कि यह कितना कठिन काम था !

मगर आज के संदर्भ में हमें भारतेन्दु पर अध्ययन करने की आवाश्यकता इसलिए मिलती है कि इस भयानक स्थिति के बावजूद भी भारतेन्दु जैसे आत्मीयता के साथ महारानी विक्टोरिया की कल्याण-कामना करते थे, अंग्रेजी शासन की अंधेरगर्दी का भी वैसे ही खुलकर वर्णन करते थे । तथा अंग्रेजों के इस क्रूर शासन से दुःखित आम जनता को सहानुभूति देकर उसका वर्णन करते थे । कहने का आशय है कि भारतेन्दु स्वयं अपने समय के मध्य-उच्च वर्ग के बुद्धिजीवियों से प्रभावित होते हुए भी वे चाहते थे कि साहित्य आम जनता के साथ जोड़ा जाय ।

इस संदर्भ में शंभुनाथ ने भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण की तुलना करते हुए भारतेन्दु युगीन नवजागरण की विशेषता इस तरह बतायी- " भारतीय नवजागरण की एक धारा अगर भारतीय परंपरा पर साम्राज्यवादी परंपराओं के प्रभुत्व की है, तो दूसरी धारा भारतीय परंपरा की साम्राज्यवादी परंपराओं से टकराहट की है । एक को हम एकांगी नवजागरण तथा दूसरे को समग्र नवजागरण कहेंगे ।"[1] अर्थात् उन्होंने राजा राममोहन राय का नव-जागरण साम्राज्यवाद की ओर झुका हुआ एकांगी नवजागरण और भारतेन्दु का नवजागरण साम्राज्यवाद विरोधी समग्र नवजागरण कहा था । उनकी इस धारणा के अनुसार राममोहन राय वाले एकांगी नवजागरण की धारा के

---

1. शंभुनाथ -" भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण", पृ0 2।

मूल सामाजिक आधार में तो विशिष्ट वर्ग के लोग थे, जबकि समग्र नवजागरण की धारा में भारतेन्दु ने साधारण मध्य वर्ग और किसानों जैसी आम जनता से स्वयं संबद्ध न होते हुए भी उसे वाणी देने का प्रयत्न किया । यानी भारतेन्दु ने सत्तावनी क्रांति के बारे में मौन रहते हुए भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध हिन्दी नवजागरण की चेतना को संकीर्णता से मुक्त करके आम जनता की चिन्ताओं को भी शामिल करने वाले एक समग्र रूप प्रदान किया । इस तरह हिन्दी साहित्य को अपनी धरती और अपने लोक से जोड़ने की यह कोशिश भारतेन्दु युग की अपनी मौलिकता है ।

इसलिए यद्यपि हिन्दी नवजागरण तथा सत्तावनी क्रांति दोनों सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाये गये थे, फिर भी हिन्दी नवजागरण की यह समग्रता सत्तावन के राष्ट्रीय विद्रोह में मौजूद एकता की भावना जैसी समग्रता से भिन्न है, जो राजनीतिक स्तर पर राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य से प्रेरित भावना थी । अभी हमें देखना है कि भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण के अंतर्गत इस समग्रता की विशेषता क्या थी, जो सारे देश की एकता से आगे नवीन राष्ट्रीयता के रूप में विकसित हुई है ।

सत्तावन के राष्ट्रीय स्वाधीनता - संग्राम की असफलता के बाद भारतेन्दु अंग्रेजी औपनिवेशवादी शासन में विक्टोरियाई सुधार में सुझाव की उम्मीद कर रहे थे, जिस से भारतीय जनता की दुर्दशा में सुधार हो । क्योंकि हर साल भारत के धन, अनाज तथा कच्चा माल इंग्लैण्ड पहुँचने से और इसके फलस्वरूप भारतीय जनता की दुर्दशा गहरी हो जाने पर भारतेन्दु दुःखी थे ।

DISS
0,152 M
152N4
TH-5913

भारतेन्दु के यह दुःख बलिया के भाषण के दौरान एक व्यापक आह्वाहन में बदल गया, जैसे भारतेन्दु पुकारते हैं - " तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो । तुम्हारे रूपया तुम्हारे ही देश में रहे, वह करो । देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैण्ड, फ्रांसीस, जर्मनी, अमेरीका को जाती है । भाइयो, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो, जिस में तुम्हारी भलाई हो, वैसी ही किताब पढ़ो, वैसी ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो । परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा पर भरोसा मत करो ।"[1] इस कथन में भारत वर्ष की उन्नति का अर्थ साधारण लोगों के लिए है, किसी विशिष्ट वर्ग-केन्द्रित नहीं । अर्थात भारतेन्दु चाहते थे कि आर्थिक स्तर पर साधारण लोगों की उन्नति से देश की उन्नति हो ।

देश-उन्नति की भावना के प्रसंग में भारतेन्दु की समग्रतावादी चेतना सुधार के बारे में उनकी इस कथन से अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देती है -"सुधार भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो । धर्म में, घर के काम में, बाहर काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल-चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरूष में, अमीर में, गरीब में, भारत वर्ष की सब अवस्था, सब जाति, सब देश में उन्नति करो ।"[2] सब स्तरों में सुधार होने से भारत की "उन्नति" यह भारतीय नवजागरण की

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1013
2. वही, पृ0 1012

एक नई अवधारणा थी । तथा इस दृष्टि से हम भारतेन्दु की व्यापक राज भक्ति का रूप भी देख सकते हैं ।

इस तरह भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों की दृष्टि में उनकी चुनौती अंग्रेजी राज की राजनीति से अधिक देश उन्नति तथा संस्कृति की थी । और भारतीय नवजागरण की प्रक्रिया भी संस्कृति से राजनीति की ओर - राजनीति से संस्कृति की ओर नहीं - उन्मुख हुई है ।

उपनिवेशवादी शासन की प्रक्रिया में एक तरफ अंग्रेजी शासन के विरुद्ध राजनीतिक टकराहट बढ़ती जाती है जिससे राजनीतिक स्वाधीनता संग्राम जैसे विद्रोह का उत्थान होता है । दूसरी तरफ नई संस्कृति से टकराते हुए अपनी संस्कृति के निजीपन और स्वत्व-रक्षा की आकांक्षा जैसी जागृत चेतना उत्पन्न होती है, जिस से सांस्कृतिक नवजागरण चलाया जाता है । सामान्य रूप में उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत राजनीतिक जैसे बाह्य खतरे के साथ लोगों के मन में आंतरिक अर्थात् सांस्कृतिक खतरा भी महसूस किया जाता है ।

उपनिवेशवादी शासन के दौरान अपना परिचय उतना गहरा और आत्मीय नहीं रह जाता जितना पहले था, अपनी कोई खास पहचान नहीं रह जाती, तथा अपनी विश्वासनीयता और विशिष्टता भी खतरे में पड़ जाती है । इससे सांस्कृतिक स्वत्व की रक्षा की आवश्यकता भी महसूस किया जाता है । यानी किसी खतरे के समय संस्कृति का रचनात्मक स्मरण होता है । एशिया और

अफ्रिका जैसी तीसरी दुनिया की आधुनिकता के दौरान ब्रिटेन अमेरीका और जापान आदि के साम्राज्यवाद के आक्रमण से राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पराधीनता का एहसास करना था । तीसरी दुनिया के पराधीन देशों ने यूरोप से भिन्न अपने सांस्कृतिक जागरण के अंतर्गत स्वत्व की चेतना को साम्राज्यवादी औपनिवेशिक शासन के खिलाफ राष्ट्रीयता के तत्व से जोड़ा । इस राष्ट्रीयता की भावना में स्वाधीनता की आकांक्षा के अलावा अपने निजीपन की पहचान तथा स्वत्व-रक्षा की आकांक्षा अधिक प्रबल होने को दिखाई देती है ।

भारतेन्दु के पहले भी भारत में जागृत चेतना से उत्पन्न अस्मिताबोध तथा सांस्कृतिक-वैचारिक एकता की भावना मौजूद थी । पर अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत सम्मिलित आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक आदि स्तरों पर स्वत्व की पहचान तथा अस्तित्व की चेतना के अभाव में "राष्ट्रीयता" की अवधारणा का सुस्पष्ट निर्माण नहीं हो पाया था ।

हर देश की राष्ट्रीयता के मूल में अपने सनातन की खोज मौजूद होती है, जो देशों के अतीत और उसके गौरव से जुड़ी हुई है । भारतीय अस्मिता को समाप्त करने के लिए अंग्रेजी सरकार की ओर से भारत के इतिहास को भी तोड़-मरोड़कर पेश करने की कोशिश की गई थी । अंग्रेजी उपनिवेशवाद ने भारत के प्राचीन इतिहास की समग्री की खोज-खोदकर एकत्र करके उसका उपयोग उपनिवेशवादी सत्ता के हक में किया । अंग्रेजी इतिहासकारों के अनुसार भारत का इतिहास विदेशी शासकों के आक्रमण से रोकर दुखड़ा सुनाने का था । यद्यपि इंगलैण्ड में मानववाद के स्वर पर कुछ अखबार और संसद में भारत संबंधी सवाल

भी उठे थे, पर अंततः एशिया को पिछड़ा कहकर तथा उपनिवेशवाद का औचित्य प्रमाणित करके यह प्रयत्न सीमित किया गया । एशिया को पिछड़ा कहने से इन लोगों का मतलब था कि पश्चिम से भिन्न यह "पूर्व" सदा के लिए गुलाम ही रहे । भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के अंतर्गत भारतीय अस्मिता को अब से बड़ा खतरा इस प्राच्यविद्या से था ।

उस प्राच्यविद्या के प्रति भारतीय नवजागरण के दौरान इतिहासकार अपने अतीत को शत्रु से मुक्त करके उसके विपरीत राज-भक्ति तथा भारतीय गौरव का स्वर उठाते थे । भारतेन्दु ने अपने अनेक निबंधों तथा नाटकों में ऐतिहासिक घटना, वीर और श्रेष्ठता आदि के बारे में लिखकर पराजय या दुःख का इतिहास नहीं, वरन् गौरवपूर्ण भारतीय इतिहास की खोज की । विशेषकर उन्होंने अपने कई नाटकों में ऐतिहासिक-पौराणिक प्रसंगों के संदर्भ में देश-प्रेम, वीरतापूर्ण कृत्यों और वीरोत्साह का सोद्देश्य चित्रण करते हुए भारत की पारंपरिक-सांस्कृतिक गरिमा के प्रति प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में गौरव-बोध का प्रदान किया । अपने "नील देवी" नाटक में उन्होंने नारी वीरता की प्रतिनिधि नील देवी का गौरवमय तेजस्वी रूप प्रदान किया । और उसके चरित्र में राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए अपने प्राण को भी अर्पित करने वाली वीर क्षत्राणी का रूप उपस्थित करके राजपूतकाल - अर्थात अतीतकालीन गौरवमय ऐतिहासिक समग्री का सदुपयोग अपने समय की समस्याओं के उद्घाटन में करना चाहा । इसलिए भारतेन्दु भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण करते हुए, न केवल स्वाधीन देश की तुलना में मानो पराधीन देश की नियति की व्यंजना प्रस्तुत करते थे, बल्कि अपने युग के सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता का परिचय

भी देते थे -

" भारत के भुजबल जग रक्षित ।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित ।।
भारत तेज जगत बिस्तारा ।
भारत भय कंपत संसारा ।।" [1]

इस तरह भारतेन्दु युगीन नवजागरण के अंदर इतिहासकारों तथा साहित्यकारों में भारतीय इतिहास के बारे में गौरव का स्वर उठाकर वर्तमान में इस्तेमाल करने की आकांक्षा स्पष्ट रूप में दिखाई देती है । इसके साथ भविष्य के लिए इस गौरव से उत्पन्न एक स्वप्न दृष्टि अर्थात् देश-उन्नति अथवा "राष्ट्रीयता की भावना भी बड़े सलग रूप में मिलती है ।

भारतेन्दु युग में प्राच्यविद्या के विरोध यह इतिहास-बोध मध्यकाल का विभाजक रेखा है । देश और समाज के प्रति साहित्यकार अपने दायित्व की पहचान पहली बार भारतेन्दु युग में करता हुआ दिखाई देता है । भारतेन्दु में यह इतिहास बोध आधुनिक मनुष्य को प्राचीन एवं मध्य कालीन मनुष्य के कल्पना लोक से धीरे-धीरे अलगकर यथार्थ की ओर उन्मुख कर देता है । तथा हिन्दी साहित्य की रचनाशीलता को मध्य कालीनता से निकालकर आधुनिक जीवन की दहलीज पर खड़ा करता है ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 469

इस तरह भारतेन्दु के लिए भारतीय अस्मिता भारतीय निजीपन की पहचान थी - अर्थात "भारतीयता" । इसके मूल में है भारतीय जातीय चेतना, जिस से भारत की अपनी अलग पहचान बनती है, अंग्रेजी राज की गुलामी नहीं । यह "भारतीयता" सिर्फ अंग्रेजी राज्य से मुक्त होने की आकांक्षा का प्रकट ही नहीं, वरन् भारत जैसे विशाल तथा जटिल देश को स्थूल रूप में एक राष्ट्र का रूप प्रदान करने का वास्तविकतागत पर्याय होती है । यही भारतीय नवजागरण के सिलसिले में भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण की सबसे बड़ी विशेषता है । भारतीय नवजागरण की चेतना में भारतेन्दु ने इस सांस्कृतिक - वैचारिक एकता की भावना को व्यापक रूप में बढ़ाकर देश-उन्नति तथा इससे अधिक"राष्ट्रीयता" जैसी नवीन चेतना से जोड़ दिया ।

अभी हमें फिर सोचना है सत्तावनी क्रांति तथा हिन्दी नवजागरण के संबंध पर रामविलास शर्मा जी की धारणा । उन्होंने बताया कि हिन्दी नवजागरण का सीधा संबंध सन् सत्तावन के राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम से है । पर अभी तक हमने जो देखा, उसके अनुसार यद्यपि दोनों के बीच सारे देश की एकता जैसी समान भावना का संबंध हो, फिर भी हिन्दी नवजागरण का सीधा संबंध सन् सत्तावनी क्रांति से जोड़ना मुश्किल है ।

अंग्रेजी उपनिवेशवाद की एक उपज अगर सन् सत्तावन का राजनितिक स्वाधीनता-संग्राम हो, तो दूसरी अधिक महत्वपूर्ण उपज है उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक नवजागरण । और इस सांस्कृतिक नवजागरण के अंतर्गत उपनिवेशवादी

शासन के खिलाफ राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना एक तरफ अपनी स्वत्व-रक्षा की आकांक्षा तथा अपनी अस्मिता की पहचान है । यानी भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के सिलसिले में अस्मिताबोध के संदर्भ में राष्ट्रीय एकीकरण की आकांक्षा सन् सत्तावन के राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम के दौरान देश-भक्ति के चरम रूप में प्रकट हुई थी । तथा सत्तावनी क्रांति की असफलता के बाद हिन्दी भाषी क्षेत्र में यह अस्मिताबोध अधिक व्यापक होकर भारतेन्दु के यहाँ देश-उन्नति तथा उससे आगे नवीन राष्ट्रीयता के रूप में विकसित हुआ ।

इस तरह यद्यपि हिन्दी नवजागरण तथा सत्तावनी क्रांति के बीच अंग्रेज-विरोध तथा सारे देश की एकता जैसी समान भावना दिखाई देती है, फिर भी भारतेन्दु युग में सांस्कृतिक नवजागरण के अंतर्गत अंग्रेज- विरोध का प्रेरणा -स्रोत तथा इससे उत्पन्न राष्ट्रीय एकता अथवा " राष्ट्रीयता " का स्रोत सत्तावन के राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम में स्पष्ट नहीं होता। इसलिए अगर हिन्दी नवजागरण के संबंध की बात करनी है, तो वह होगा सत्तावनी क्रांति से नहीं, वरन् अंग्रेजी साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक प्रतिरोध से ज्यादा निकट होगा ।

भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण के दौरान सांस्कृतिक जागृति-चेतना से उत्पन्न राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे बड़ा विरोधाभास यह था कि भारतेन्दु के जमाने में हिन्दी प्रदेश में साम्प्रदायिक-मुख्यतः हिन्दू-मुसलमान के बीच विचारधारा का विकास हो रहा था। सन् सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम में जो

हिन्दू-मुसलमान दोनों अंग्रेजों के खिलाफ साथ-साथ लड़े थे, वे भारतेन्दु के जमाने में क्यों और कैसे विभक्त हो गये ? जिस प्रदेश में हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों के लोग एक साथ मिलकर सन् सत्तावन में अंग्रेजी राज के खिलाफ लड़े थे, उसी हिन्दी प्रदेश का नवजागरण धर्म, इतिहास, भाषा सभी स्तरों पर टुकड़े-टुकड़े हो गया । इनसे अधिक स्वत्व-रक्षा के प्रयास भी धर्म तथा सम्प्रदाय की जमीन से किये गये ।

भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण के दौरान इस साम्प्रदायिकता के संदर्भ में विचार करें, तो यद्यपि रामविलास शर्मा जी ने सत्तावनी क्रांति की विशेषताओं में से एक यह बतायी थी - " इस क्रांति का असाम्प्रदायिक राष्ट्रीय रूप । सन् सत्तावन का स्वाधीनता संग्राम अंग्रेजों द्वारा प्रेरित सम्प्रदायवाद की सबसे बड़ी पराजय था । " फिर भी ध्यान देना होगा कि उस समय इस सम्प्रदायवाद राजनीतिक स्तर पर अंग्रेजी शासकों के अलावा धार्मिक स्तर पर ईसाई मिशनों से भी प्रेरित हुआ था । उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय "राष्ट्रीयता पर बाधा डालने वाली जटिल धार्मिक समस्याओं पर ईसाई धर्म ने जो भूमिका निभाई, उसको अनदेखा हुआ न किया जा सकता । यद्यपि ईसाई मिशनों ने भारतीय समाज पर शिक्षा के प्रसार, सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों पर सुधार आदि का काम किया हो । ईसाई मिशन ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पहले, दक्षिण भारत में सिर्फ धर्म फैलाने आये थे । पर धीरे-धीरे अंग्रेजी शासकों ने इनकी सहायता करते हुए ईसाई धर्म-प्रचार को जाने -अनजाने राजनीतिक स्तर पर उपनिवेशवादी शासन का स्रोत बना दिया ।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंम्भ में आकर ईसाई धर्म का प्रचार अधिक प्रबल हुआ । और उस पूरे शताब्दी में इस धर्म के प्रचारकों ने देश के विभिन्न भागों में ईसाई धर्म की प्रतिनिधि संस्थाएं, मिशनरी संस्थाएं और अनेक विद्यालय स्थापित किये । इन संस्थाओं और प्रचारकों ने नाना विषयों के पाठ्य-ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए अंग्रेजी शिक्षा के साथ ईसाई धर्म-मत को भी फैलाया था । इस के फलस्वरूप आधुनिक शिक्षा-प्राप्ती भारतीय युवक ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे । समय गुजरने पर भारतीय लोगों में से ईसाई धर्म की ओर धर्म परिवर्तन करने वालों की संख्या जितनी बढ़ती गई- विशेषकर समाज के निम्न वर्ग के लोगों तथा स्त्रियों के बीच, उतना हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य धर्मों के नेताओं ने खतरा महसूस किया । ईसाई धर्म के इस प्रचार के कारण भारतीयों के बीच अपनी धर्म-संस्कृति की सुरक्षा का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ ।

ध्यान से देखें, तो ईसाइयों के प्रचार-कार्य का प्रभाव हिन्दुओं की जन-संख्या पर अधिक पड़ रहा था । ईसाई उपदेशक अधिकतर हिन्दू धर्म की स्थूल और बाहरी बातों को लेकर अपने खण्डन मण्डन चलाते आ रहे थे । अत: हिन्दुओं के शिक्षित वर्ग के बीच स्वधर्म रक्षा की आकुलता तेज से दिखाई देने लगी ।

स्वधर्म रक्षा की बड़ी जबरदस्त प्रतिक्रिया खासकर बंगाली बुद्धिजीवियों में हिन्दुवाद के तेज स्वर में अधिक मिलती थी । बंगाल के राजा राममोहन राय उपनिषद और वेदान्त का ब्रह्म ज्ञान लेकर उस का प्रचार करने खड़े हुए । "ब्रह्म समाज " की स्थापना उन्होंने सन् 1828 ई· की, जिस की प्रेरणा से

महाराष्ट्र में " प्रार्थना समाज " (1867) का जन्म भी हुआ । ऐसी प्रक्रिया में " सीता राम " में बंकिम चटर्जी के पुकार को सुनें, " हिन्दू को हिन्दू न बचाएगा तो कौन बचाएगा ।"

हिन्दुवाद को पुकारने वाले ऐसे बंगाली बुद्धिजीवियों का प्रभाव सिर्फ बंगाल में ही नहीं, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के फैलाव के साथ हिन्दी भाषी क्षेत्र में धर्म के अलावा समाज तथा राजनीति आदि के स्तर पर भी प्रबल रूप में पड़ा था । हिन्दी क्षेत्र में स्वामी दयानंद ने सन् 1875 ई॰ में " आर्य समाज " की नींव डाली । उनके नेतृत्व में आर्य समाज ने रूढ़िवादी सनातनियों से, हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने वाले ईसाइयों से और देश में फैले हुए अनेक धार्मिक सम्प्रदायों से एक साथ ही लोहा लिया । इसके साथ उपनिषद और गीता को अपने चिन्तन के केन्द्र में रखकर अपना धर्म अर्थात हिन्दू धर्म की सुरक्षा करने की चेष्टा की । तथा इन सब के साथ आर्य समाज ने हिन्दू एकांतिक जीवन-पद्धति के विरूद्ध उसे समाज के रूप में गठित करने का प्रयास भी बड़े सजग रूप में किया ।

लेकिन यद्यपि इन तीनों समाजों ने भारतीय समाज पर बहुत कुछ सकारात्मक प्रभाव डाल दिया, फिर भी हिन्दुवाद का स्वर उठाकर खासकर हिन्दू-मुसलमान के बीच साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ाने से भारतीय समाज पर कुछ नकारात्मक प्रभाव भी डाल दिया । उस समय हिन्दू बुद्धिजीवियों के विचार में भारतीय एकता जैसी चेतना धर्म - अर्थात् हिन्दू धर्म के आधार पर सब जाति को हिन्दू जाति के अंतर्गत शामिल करने की आकांक्षा के रूप में थी । कहने का अर्थ है कि हिन्दू-मुसलमान के बीच सम्प्रदायवाद अंग्रेजों से अधिक उस समय मध्य-उच्च

वर्ग के हिन्दू बुद्धिजीवियों के विचार में मौजूद अंतर्विरोधों का परिणाम हुआ । भारतेन्दु के समय तक हिन्दू बुद्धिजीवियों ने तथाकथित हिन्दू जाति के एक अंधविश्वास-सच कहें, तो अंध राष्ट्रवाद जैसे संकीर्ण रूप में राष्ट्रीय अस्तित्व की तलाश की । " भारतीयता " अथवा " भारतीय राष्ट्रीयता " के विकास के लिए यह साम्प्रदायिकता बड़ी रूकावट डालने वाली समस्या थी । पर हिन्दुओं का यह संघर्ष केवल भारतेन्दु के समय में ही नहीं, वरन् पूरे साम्राज्यवादी शासन के दौरान तथा आजादी के बाद दुर्भाग्य से आज भी चलता रहता है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस सम्प्रदायवाद को सत्तावन की राजक्रांति के संदर्भ में देखें, तो सन् सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम में प्रकट नितांत असाम्प्रदायिक पक्ष का संदेश हिन्दी नवजागरण तक पूरा - पूरा नहीं पहुँच सके । इसलिए भारतेन्दु युग में यह सम्प्रदायवाद का विकास न केवल हिन्दी नवजागरण की सीमा है, बल्कि उसको सत्तावनी क्रांति से सीधा न जोड़ने का भी कारण बनती है ।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की राष्ट्रीयता के बारे में इतिहासकार ज्ञानेन्द्र पाण्डेय की बात थी - " १९वीं शताब्दी के जिन चिन्तकों और प्रचारकों को हिन्दू राष्ट्रवाद के आन्दोलन का संस्थापक बताया जा रहा है उन के जीवन काल में राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य को लोगों के एकमात्र उपयुक्त और स्वभाविक राजनीतिक अस्तित्व के रूप में देखने का लोकप्रिय वैचारिक आग्रह पैदा ही नहीं हुआ । यह बात न सिर्फ १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सक्रिय रहे राजा राम मोहन

राय के बारे में सही है बल्कि सदी के उत्तरार्द्ध में संभावित भारतीय राष्ट्रवाद में " हम " की अवधारणा को लेकर संघर्ष कर रहे लेखकों और चिन्तकों के बारे में भी सही है । उन्नीसवीं सदी के अंत में जाकर इस बात पर थोड़ी बहुत सहमति हो पायी थी कि " हम" का तात्पर्य उन लोगों से है जो इस इंडिया ‖ भारतवर्ष ‖ नाम के भूभाग पर रहते हैं । "[1]

भारत एक धार्मिक देश है । एक ही धर्म नहीं, वरन् अनेक धर्मों के लोग साथ-साथ भारत भूमि पर रहते हैं । भारतेन्दु का महत्व इस लिए होता है कि वे स्वयं हिन्दू धर्म के वैष्णव होते हुए भी मुसलमानों के अलावा सभी धर्म, सम्प्रदाय और वर्ग के लोगों के प्रति विरोध नहीं, सम्मान रखते थे । इस के साथ तत्कालीन भारतीय समाज में धर्म के बारे में भी उनका विचार था -" समाज की उन्नति का मूल धर्म है । जहाँ का धर्म परिष्कृत नहीं, वहाँ का समाज उन्नत नहीं ।"[2] इन वाक्यों में भारतेन्दु का चाहना था कि धर्म सुधार और परिष्कृत होने से धार्मिक बंधनों और रूढ़ियों को त्याग कर लोग आधुनिक जीवन अपनाने से समाज की उन्नति करें । तथा इस से देश की उन्नति भी हो जाय ।

पर भारतेन्दु के युग तक राष्ट्रवाद जैसी कोई चीज भारत के इतिहास में हुई भी नहीं । इसलिए भारतेन्दु के जमाने में राष्ट्रीय एकता के चिन्तकों और प्रचारकों में आजकल जैसे राष्ट्रवाद का प्रौढ़ रूप नहीं मिल सकता । इसी कारण भारतेन्दु युग में हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खों आदि सभी के लिए यदा-कदा संयुक्त रूप से हिन्दू शब्द का प्रयोग होता था । इस स्थिति में सन् 1884 ई॰ में

---

1. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय " हिन्दुज ऐण्ड अदर्स " पृ0 244
2. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1012

में बलिया में दिए अपने मशहूर भाषण में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने एलान किया- "जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मद्रासी वैदिक, जैन, ब्रह्मों, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।"[1]

इस तरह भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के अंतर्गत भारतीय एकीकरण अर्थात " भारतीयता" को भारतेन्दु युग में अधिक प्रखर होकर राष्ट्रीयता का रूप प्राप्त हुआ। आमतौर पर " हिन्दू " शब्द का तात्पर्य एक विशेष धार्मिक परंपरा या परंपराओं के समूह से संबंधित समुदाय से लिया जाता था। पर भारतेन्दु के कथन में " हिन्दू " शब्द का प्रयोग केवल हिन्दू धर्म के लोगों के लिए ही नहीं, वरन् सारे हिन्दुस्तान में रहने वालों के लिए हुआ है। भारतेन्दु में "हिन्दू " का अर्थ व्यापक होकर केवल हिन्दू जाति ही नहीं, बल्कि सारे हिन्दुस्तान प्रदेश में रहने वाले सभी जातियों, सभी धर्मों, सभी वर्गों के लोगों के लिए था।

मगर भारत के भौगोलिक स्तर पर आधारित भारतेन्दु की इस राष्ट्रीयता को आगे चलकर हिन्दू और मुसलमान राष्ट्रवादियों ने अपनी अलग-अलग चुनौतियों के रूप में ग्रहण किया। भारतेन्दु के "हिन्दू" शब्द के उसी अर्थ में नहीं, वरन् कई अन्य अर्थों में व्याख्या की जाने लगी। कुछ लोगों में इस तरह की दलील भी उठायी गयी कि भारतेन्दु ने "हिन्दू" शब्द का यह प्रयोग एक खास प्रयोजन से किया था तथा यह एक विस्तारवादी अभिव्यक्ति थी जो देश के विभिन्न समुदायों की एकता के लिए हिन्दुस्तान के निवासी जैसी भौगोलिक सीमा को

---

1. भारतेन्दु समग्र, 1013

आधार रखने से मुसलमान के अलावा अन्य धर्मों, अन्य जातियों की अस्मिता मिट जाती है । इस तरह के विचार के अनुरूप एक सवाल बहुत तीखेपन के साथ उठाया गया था कि क्या स्थापित हिन्दू की भौगोलिक परिधि पर रहने वाले बौद्ध, जैन, सिख, भक्ति सम्प्रदाय के कबीरपंथी और वल्लभाचार्य पंथ के अनुयायी, अछूतों और आदिवासी समूहों और जातियों को हिन्दुओं में शामिल किया जा सकता है या नहीं ?[1]

"हिन्दू" शब्द के अर्थ को लेकर इस भ्रम-स्थिति के अलावा इसे संकीर्ण अर्थ में व्याख्या करके हिन्दुओं के बीच हिन्दू-संगठन की आवाज अधिक तीव्र हो रही थी । तथा इस के विरुद्ध अन्य धर्मों या समुदायों - मुख्यत: मुसलमानों के बीच हिन्दुओं से अलग रहने की आकांक्षा उत्पन्न होने लगी । यानी हिन्दुओं के भीतर जितनी "हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तानी" की आवाज तेज हो रही थी, उतनी मुसलमानों के बीच में उस के विपरीत अपनी पहचान तथा स्वत्व-रक्षा की भावना बढ़ती जा रही थी । मुसलमानों की ओर से सैयद अहमद खाँ जैसे नेता शुरू में भारतेन्दु की तरह सारे हिन्दुस्तान-निवासियों की एकता के लिए चिन्तित थे । लेकिन समय गुजरने पर वे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच असमानता को महसूस करके हिन्दुओं से अलग मुसलमानों के संगठन तथा उसकी उन्नति पर ही बल देने लगे ।[2]

इस तरह भ्रमित दृष्टि से भारतेन्दु की राष्ट्रीयता की व्याख्या करने

---

1. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय -" हिन्दुज एण्ड अदर्स" पृ0 245
2. फ्रांसिस रोबिन्सन सेपरेटिज्म अमंग इन्डियन मुस्लिमस्", पृ0 98

तथा संकीर्ण अर्थों में भारतीय राष्ट्रीयता की तलाश करने वाले इन प्रयत्नों से भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण में न केवल राष्ट्रीयता का प्रौढ़ रूप नहीं मिल पाया था, बल्कि हिन्दू-मुसलमान के बीच विषम साम्प्रदायिक भावना बढ़ती गई और अंततः देश के विभाजन का आधार भी बन गई ।

भारतेन्दु की भारतीयता और इस से विकसित भारतीय राष्ट्रीयता पर बाधा डालने वाली हिन्दू-मुसलमान के बीच इस साम्प्रदायिकता को अगर एक सीमा मानते हैं, तो हिन्दी नवजागरण की एक और सीमा इस में होगी, जैसे ज्ञानेन्द्र पाण्डेय के शब्दों में - " जब लोग धार्मिक अर्थों में हिन्दू,मुसलमान और सिक्ख शब्दों का प्रयोग करते थे तो हमारा यह साफ नहीं होता था कि इस श्रेणी में कौन लोग शामिल हैं और कौन नहीं । इस मामले में सब से बड़ा सवाल उन लोगों को लेकर था जिन्हें आज अछूत कहकर सम्बोधित किया जाता है ।"[1]

ध्यान से देखें, तो भारतेन्दु के साहित्य में अपने समय के मुसलमानों के अलावा समाज के निम्न वर्गों, नारियों तथा अन्य दलित वर्गों की चिन्ता लगभग नहीं दिखाई देती है । यद्यपि इस संदर्भ में भारतेन्दु " नील देवी" की भूमिका में स्त्री शिक्षा और भारतीय राष्ट्रीयता में स्त्रियों के महत्व के बारे में बताते थे -" और बातों में जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज संभालती हैं, अपने सन्तानगण की शिक्षा देती हैं, अपनी स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उस में सहायता देती हैं और इतने सम्मुनत मनुष्य जीवन को

---

1. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, वही, पृ0 246

गृहदास्ता और कलह ही में नहीं खोती.....।"[1] अर्थात यद्यपि स्त्री को घर की दास्ता तथा कलह से मुक्त करके सामाजिक और राष्ट्रीय कर्मी बनाने की परिकल्पना भारतेन्दु युगीन नवजागरण का प्रमुख आयाम है, फिर भी हिन्दी नवजागरण के दौरान साहित्यकारों के लेखन में अपने समाज के दु:खित निम्न वर्गों, दलित वर्गों तथा अछूत लोगों की चिन्ता लगभग नहीं मिलती ।

इस तरह हिन्दी नवजागरण के अंतर्गत जो समस्याएं अथवा सीमाएं - हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख के बीच सम्प्रदायवाद और समाज के दलित वर्गों को नजर अंदाज करना - दिखाई देती हैं, उन्हें भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण में राष्ट्रीय चेतना की संकीर्णता के रूप में नहीं, वरन् आज के संदर्भ में हमारी ही चुनौतियों के रूप में देखना होगा । ताकि आज के जमाने में भी वर्तमान होती हुई उन समस्याओं को संबोधित करके अधिक कठोर तथा प्रामाणिक रूप में भारतीयता और भारतीय राष्ट्रीयता को प्राप्त किया जा सके ।

सांस्कृतिक नवजागरण के अंतर्गत अस्मिता की तलाश में सब से बुनियादी शर्त थी निज भाषा । इसलिए स्वत्व-रक्षा की संघर्ष में 19वीं शताब्दी के नव-जागरण का सब से निर्णायक कदम भी भाषा के क्षेत्र से उठा । तथा भारतेन्दु युग में हिन्दी नवजागरण के दौरान स्वत्व-रक्षा की समस्या सब से अधिक भाषा के संबंध खड़ी हुई थी । भारतेन्दु के जमाने में भाषा को लेकर मुख्य तीन सवाल उठाये गये, जैसे खड़ी बोली हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी का सवाल ।

साम्राज्यवादी संस्कृति के विरुद्ध भारतीय जातीय संस्कृति की रक्षा के

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 479

लिए भारतेन्दु ने भाषा को एक सशक्त हथियार के रूप में प्रयुक्त किया । वे स्वयं देश की उन्नति के लिए निज भाषा की उन्नति को अनिवार्य समझकर बताते थे -

" निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटन न हिय को सूल ।"[1]

इन पंक्तियों में भारतेन्दु की " निज भाषा " से तात्पर्य खड़ी बोली हिन्दी से ही है । अर्थात हिन्दी का अस्तित्व । तथा भारतेन्दु का भाषा-सम्बंधी विचार भी मुख्यत: हिन्दी से ही संबद्ध था ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु के समय तक खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का समर्थ माध्यम न बन सकी थी । इसके साथ उस समय खड़ी बोली हिन्दी के प्रचार के लिए मुख्य दो तरफ की बाधाएं थीं । एक तरफ तो उर्दू के समर्थक हिन्दी को उर्दू के प्रचार -प्रसार में बहुत बड़ी बाधा समझते थे । दूसरी तरफ हिन्दी के कुछ पुराने साहित्यकार जो पुरानी काव्य-परंपराओं से चिपके होने के कारण खड़ी बोली हिन्दी के विकास के प्रति बिलकुल उदासीन थे ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का नाम सबसे अधिक खड़ी बोली हिन्दी के प्रसार तथा विकास के साथ जुड़ा हुआ है । इस संदर्भ में हिन्दी नवजागरण के दौरान खड़ी बोली हिन्दी को सबसे अधिक

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 228

उर्दू भाषा से लड़ना था; जो उस समय सरकार की भाषा थी । मध्य काल में मुसलमानों के भारत में आने से उनकी भाषा- अरबी तथा फारसी-- का प्रभाव भारत पर पड़ा था । सन् 1836 ई॰ तक भारत में सरकारी दफ्तरों की भाषा फारसी थी । इस के साथ औरंगजेब के समय से फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेखता में शायरी भी शुरू हो गई । तथा सन् 1837 ई॰ से वह फारसी बहुल उर्दू हो गई । इसलिए देश भाषा के नाम पर लेखकों को उर्दू ही सिखाई जाने लगी थी । तथा उर्दू पढ़े-लिखे लोगों को ही शिक्षित कहलाने लगा ।

भारतेन्दु युग में बहुत से लेखक और स्वयं भारतेन्दु भी खड़ी बोली हिन्दी से अधिक उर्दू जानते थे तथा उर्दू के प्रचलित होने से उर्दू में रचनाएं भी लिखते थे । पर उर्दू के बारे में भारतेन्दु का विचार था कि विशाल हिन्दी प्रदेश का सांस्कृतिक विकास उर्दू के माध्यम से संभव नहीं, वरन् भारतीय जनता की भाषा यानी खड़ी बोली हिन्दी से ही संभव था ।

भारतेन्दु की भाषा-चेतना लोक मानस में प्रचलित भाषा-चेतना के अनुरूप थी । यानी उनकी दृष्टि मुख्यत: भाषा के व्यवहार-पक्ष की ओर थी । वे सोचते थे कि भारतीय जातीय जीवन के लिए खड़ी बोली हिन्दी सब से बुनियादी थी । भारतेन्दु का तर्क था कि संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी वगैरह ऐसी भाषाएं हैं जो बाहरी जीवन क्षेत्र से ही संबंधित हैं, घर का जो आंतरिक जीवन है, जिस में हमारी माताएं, बहू, बेटियां, बाल-बच्चे आते हैं, उनके मध्य इन बाहरी भाषाओं से काम नहीं चल सकता । इन आंतरिक जीवन से संबंधित भाषा थी खड़ी बोली हिन्दी।[1]

1॰ भारतेन्दु समग्र, पृ0 228-230

इस तरह वे नागरी लिपि के महत्व और उसका जनाधार को भली-भाँति समझते थे । यद्यपि फारसी सैकड़ों साल तक इस देश की राजभाषा के रूप में विद्यमान थी, पर नागरी लिपि का सर्वथा लोप न हो सका । जनता की लिपि तो नागरी लिपि थी । यानी उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली हिन्दी भारतीय लोगों के आंतरिक जीवन की भाषा तथा देश भाषा के रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है । अर्थात उनका विचार था कि खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ है ।

भाषा के लोक -व्यवहार पक्ष में होने के कारण भारतेन्दु ने यह भी पहचाना कि भाषा के विकास का मार्ग अपने समय में संस्कृत के तत्सम रूपों को अपनाते हुए भाषा के सहज तथा प्राकृत रूप के बल पर अग्रसरित हो रहा था । वे कहते थे -

" पढ़े संस्कृत जतन करि पण्डित भी विख्यात ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत एक बात ।।"[1]

अर्थात संस्कृत के अभ्यास से महान पण्डित बना जा सकता है, किन्तु लोक-व्यवहार में भावों की सहज अभिव्यक्ति हिन्दी के अभाव में नहीं की जा सकती ।

इस तरह हिन्दी नवजागरण के दौरान हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा होने से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी प्रचार का आन्दोलन अधिक संगठित और निखरे रूप में प्रकट हुआ । ऐसी प्रक्रिया में "हरिश्चंद्र मैगजीन"(1873) नामक की मासिक पत्रिका-- जिस का नाम बाद में "हरिश्चन्द्र चंद्रिका " में

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 228

बदल गया -- के बारे में "कालचक्र" नामक पुस्तक में भारतेन्दु ने लिखा - "हिन्दी नई चाल में ढली सन् 1873 ई॰ में ।"

इस नई चाल में ढली हिन्दी ने अपने समय में एक बड़ी ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की । सत्तावन के बाद भारतेन्दु युग में हिन्दी नवजागरण के दौरान भारतीयों को महसूस करना था किस एक अखिल भारतीय भाषा की आवश्यकता । यानी भाषा के क्षेत्र में हिन्दी नवजागरण ने अस्मिताबोध के लिए जो संघर्ष किया उस का सब से शानदार पहलू था प्रत्येक जातीय भाषा के विकास के साथ आपसी आदान-प्रदान के लिए एक अखिल भारतीय भाषा का विकास । और यह अखिल भारतीय भाषा होनी चाहिए थी खड़ी बोली हिन्दी को ही । क्योंकि हिन्दू जातीयता तथा उससे आगे तदनन्तर भारतीय राष्ट्रीयता ने अपने जागृति, संगठन और विकास के लिए खड़ी बोली हिन्दी के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त किया । इस तरह इस नई चाल में ढली खड़ी बोली हिन्दी ने न केवल हिन्दी-प्रदेश, बल्कि सम्पूर्ण भारत की जनता में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीय एकता की भावना को उभारने में कारक - भूमिका निभाई ।

भारतेन्दु के समय हिन्दू-मुसलमान के बीच साम्प्रदायिक भावना का विकास कुछ ठोस मुद्दों पर हो रहा था, उनमें से भाषा संबंधी एक जटिल मुद्दा था कि अदालतों और स्कूलों में - अर्थात सरकार की काम काज में किस भाषा या लिपि को मान्यता दी जाय - हिन्दी नागरी लिपि अथवा उर्दू भाषा लिपि । भाषा से संबंधित यह समस्या आगे चलकर हिन्दू-मुसलमान के बीच

साम्प्रदायिक भावना के बढ़ाव का आधार बन गई । तथा इसके फलस्वरूप हिन्दू-राष्ट्र और पाकिस्तान दोनों की राजनीति तथा अंतत: देश के विभाजन का आधार भी हिन्दी प्रदेश ही रहा । ऐसा क्यों ?

ध्यान से देखें, तो मालूम हो जाता है कि भारतेन्दु युग में तथा उसके पहले हिन्दी-उर्दू के बीच यह झगड़ा मुख्यत: राजनीतिक स्तर पर हो रहा था। लेकिन सत्तावनी क्रांति के बाद भारतेन्दु के जमाने में यह झगड़ा राजनीतिक के अलावा अन्य स्तरों पर भी अधिक जटिल और गंभीर रूप में होने लगा । भारतेन्दु युग के हिन्दी नवजागरण के अंतर्गत सब से विडम्बना की बात यही होगी ।सन् सत्तावन के पहले भारत में जागृत चेतना से उत्पन्न जिस स्वत्व की भावना से हिन्दू तथा मुसलमान सन् सत्तावन में अंग्रेजों के खिलाफ साथ-साथ लड़े थे, वही स्वत्व-रक्षा की भावना सत्तावनी क्रांति के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों के अंदर अलग अलग रूप में विकसित होने लगी ।

सत्तावनी क्रांति के बाद हिन्दी प्रदेश में हिन्दी प्रचार का आन्दोलन अधिक तेज से चलने लगा । इस का कारण अगर बताया जाय, तो रामविलास शर्मा जी ने भी कहा था कि यह संग्राम हिन्दी भाषी प्रदेश में सबसे प्रबल रूप में चलाया गया । इस बात से यह विचार करना अनिवार्य होगा कि भारतेन्दु युग में हिन्दी नवजागरण के दौरान स्वत्व-रक्षा से उत्पन्न हिन्दी भाषा से जुड़ी हुई निज भाषा की चेतना हिन्दी भाषी क्षेत्र में भारतीयों- सच कहें, तो हिन्दुओं के बीच अधिक प्रबल रूप में उभरी । और इस में आर्य समाज तथा उस के संस्थापक दयानंद सरस्वती की प्रमुख देन भी न भूल जानी चाहिए । इन गतिविधियों से

से मुसलमानों को उर्दू के अस्तित्व पर गहरा खतरा महसूस करना था । इससे उर्दू भाषा को लेकर मुसलमानों के बीच सिर्फ राजनीतिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि हिन्दू धर्म से अलग तथा उसके विरुद्ध अपने इस्लाम धर्म के धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर भी स्वत्व-रक्षा की चेतना उभरने लगी ।

संक्षेप में कहें, तो अदालतों की भाषा से संबंधित हिन्दू तथा मुसलमान के बीच जो झगड़ा हो रहा था, वह सत्तावनी क्रांति के बाद हिन्दुओं तथा मुसलमानों के अपनी अलग-अलग पहचान और स्वत्व-रक्षा के लिए होने लगा । इसलिए यद्यपि हिन्दी नवजागरण तथा सत्तावनी क्रांति के बीच सीधा संबंध नहीं माना जा सके, फिर भी यह कहना होगा कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच निज भाषा से संबंधित स्वत्व-रक्षा की भावना को सत्तावनी क्रांति से पृष्ठभूमि और प्रेरणा मिली थीं । तथा सांस्कृतिक नवजागरण के अंतर्गत हिन्दी-उर्दू के बीच यह भाषिक समस्या और इससे विकसित हिन्दू-मुसलमान के बीच साम्प्रदायिक भावना का बढ़ाव सत्तावनी क्रांति से किस हद तक जुड़ हुए हैं ।

हिन्दी-उर्दू के बीच यह समस्या हिन्दी नवजागरण की एक सीमा होते हुए समय गुजरने पर अधिक जटिल तथा गंभीर हो गयी थी । भारतीय अस्मिताबोध के लिए यह समस्या सिर्फ भारतेन्दु युग में ही नहीं, वरन् इसको आगे हिन्दू और मुसलमान राष्ट्रवादियों ने अपनी राष्ट्रीय अस्मिता के लिए चुनौती के रूप में ग्रहण किया । इसलिए हिन्दी-उर्दू की यह झगड़ा बाद में सिर्फ हिन्दू-मुसलमान के बीच साम्प्रदायिकता के बढ़ाव ही नहीं, वरन् देश-विभाजन का भी आधार बन गया । तथा आजादी के बाद आज के जमाने में भी हमारी समस्या और चुनौती के रूप में वर्तमान है ।

अभी हमें देखना यह है कि उर्दू भाषा के प्रति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी नवजागरण के दौरान भारतेन्दु तथा उनकी मण्डली का क्या दृष्टिकोण था ? यद्यपि भारतेन्दु ने अपने अनेक लेखों में उर्दू भाषा का प्रबल विरोध प्रकट किया, फिर भी भारतेन्दु की भाषा-नीति के अंतर्गत भारत में उर्दू भाषा होने का विरोध नहीं था । वे मानते थे कि उर्दू भारत की ही भाषा है, जिस का जन्म भारत की धरती पर ही हुआ - न कि अरब या फारस में । भारत की बहु भाषिक चेतना के संदर्भ में वे उर्दू भाषा का विरोध नहीं करते थे, वरन् उर्दू का फारसी या अरबीकरण होने के विरुद्ध थे । तथा राजनीतिक स्तर पर भारतीय सरकार की भाषा उर्दू होने से यानी उर्दू के राष्ट्र भाषा होने से विरुद्ध थे ।

इस तरह भारतेन्दु न केवल उर्दू को भारतीय भाषा मानते थे, बल्कि हिन्दी-उर्दू को एक ही भाषा के रूप में देखते थे - अलग -अलग दो भाषाओं के रूप में नहीं । हिन्दी-उर्दू के साहित्य में जहाँ सचमुच अलगाव है, वहाँ भारतेन्दु दो भाषाओं, दो साहित्यों का अस्तित्व नहीं, वरन् एक भाषा तथा एक ही साहित्य की दो धाराएं मानते थे ।

सिर्फ उर्दू ही नहीं, भारतेन्दु भारत की किसी भी भाषा का भी विरोध नहीं करते थे । उन्होंने भाषा के माध्यम से हिन्दी भाषी जनपदों में जिस जातीय चेतना और संस्कृति का उन्मेष किया, उस में किसी भी जनपद में बोली जाने वाली बोलियों का विरोध नहीं किया था । वे ग्रामीण तथा जनपदीय बोलियों के साथ खड़ी बोली हिन्दी का अधिकाधिक करीबी रिश्ता मानते थे ।

इसलिए भारतेन्दु के यहाँ भारतीय अस्मिताबोध के संदर्भ में भारतीय साहित्य केवल हिन्दी में ही नहीं, वरन् अन्य अनेक भाषाएं, बोलियों तथा पड़ोसी प्रदेश की भाषाएँ आदि सब भारतीयता की पहचान करती हैं । इस भाषिक भिन्नता में हर भाषा की अपनी परंपरा, साहित्यिक परंपरा तथा अलग-अलग प्रदेशीय भाषाओं की उप-संस्कृतियों की परंपरा मौजूद हैं ।इसलिए भारत में इस भाषिक भिन्नता भारतीय साहित्य की विशेषता बनती है । तथा इस से जीवन-यथार्थ के ज्यादा निकट होकर इन विभिन्न भाषाओं के जीवन की पहचान गहरी हो जाती है और भविष्य -द्रष्टा की दृष्टि भी मिलती है । इस तरह आगे की हिन्दी का जो स्वरूप विकसित हुआ, वह भारतेन्दु की इस भाषा-नीति की ही नींव पर विकसित हुआ है ।

भारतेन्दु की इस भाषिक चेतना अपने जमाने में अंग्रेजी भाषा के प्रति भी दिखाई देती है । उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों के अलावा कुछ भारतीयों का तर्क था कि हिन्दी और उर्दू आधुनिक शिक्षा के उपयुक्त नहीं तथा इनके माध्यम से नई शिक्षा का प्रचार असंभव था । उन लोगों का यह तर्क उस युग की परिस्थितियों को देखते हुए किस हद तक सही था । स्वयं भारतेन्दु भी अंग्रेजी राज का एक वरदान-शिक्षा मानते थें तथा आधुनिक-वैज्ञानिक शिक्षा के लिए अपनी भाषा की सीमाओं की भी पहचानते थे । फिर भी उन्होंने अंग्रेजी भाषा को विरोध करने या उसको अपनाने के स्थान पर उसके हिन्दी में अनुवाद की आवश्यकता पर बल दिया और स्वयं भी उस दिशा में आगे बढ़े थे ।

हिन्दी नवजागरण के दौरान अस्मिताबोध के संदर्भ में अंग्रेजी भाषा की

समस्या भारतेन्दु युग में इतनी गहरी नहीं थी । पर यह समस्या आजादी के बाद अधिक गंभीर हो जाते हुए आज के जमाने में सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के संदर्भ में नई समस्या तथा चुनौती के रूप में खड़ी हो जाती है ।

इस तरह भारतेन्दु भाषा के प्रति बिल्कुल जनतांत्रिक थे तथा लोक मानस में प्रचलित भाषा-चेतना के अनुरूप भाषा के व्यवहार-पक्ष को मानते थे । तो फिर आखिर भारतेन्दु की "निज भाषा" क्या थी ? अपने निबंध- "हिन्दी भाषा " में ग्यारह प्रकारों की लेखन प्रवृत्तियों का परिचय देते हुए उन्होंने अपनी राय स्पष्ट जाहिर की -" हम इस स्थान पर वाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिए । पर हाँ मुझ से कोई अनुमति पूछे तो मैं कहूँगा कि नम्बर 2 और 3 लिखने के योग्य है ।"[1] अर्थात् नम्बर 2 और 3 से भारतेन्दु का मतलब था कि वे अल्प मात्रा में संस्कृत शब्दों से युक्त और विशुद्ध हिन्दी के प्रयोग, जिस में आधिक्य रूप में न संस्कृत, न फारसी, न अंग्रेजी का मेल हो, न बनारस का देशीपन, न दक्षिण का या बंगाल का पूर्वीपन हो, के प्रयोग को ही उचित मानते हैं ।

समग्र रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी नवजागरण ने बंगला नवजागरण, यूरोपीय पुनरूत्थान तथा भक्ति आन्दोलन से भी भिन्न होकर अपना मार्ग प्रस्तुत किया । इस में भारतेन्दु ने सांस्कृतिक-वैचारिक एकीकरण को अधिक व्यापक स्तर पर जनता के स्तर से जोड़कर नवीन राष्ट्रीयता का रूप

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 105।

देते हुए " भारतीय अस्मिता " की तलाश के लिए संघर्ष किया । यद्यपि भारतेन्दु के हिन्दी नवजागरण सन् सत्तावन के राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम में प्रकट चेतना से मिले-जुले नहीं तथा इससे वास्तविक प्रेरणा नहीं लेते- यानी सीधा संबंध नहीं होते । फिर भी इससे आगे सांस्कृतिक नवजागरण के अंदर भारतीय स्वत्व-रक्षा के लिए भारतेन्दु ने अपना जो मार्ग चुन लिया, वह न केवल अंग्रेजी साम्राज्यवाद के राजनीतिक उपनिवेशवादी शासन के खिलाफ, बल्कि सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक आदि स्तरों पर अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरोध का मार्ग था । तथा भारतीय परंपरा में मौजूद सांस्कृतिक-वैचारिक एकता को आगे बढ़ाकर भारत जैसे विशाल तथा बहुभाषिक-सांस्कृतिक-धार्मिक जातीय देश को एक राष्ट्र का रूप प्रदान करने वाली आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता की ओर जाने का मार्ग था ।

इस तरह अंग्रेजी साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय नवजागरण की अत्यंत जटिल तथा संश्लिष्ट प्रक्रिया में हिन्दी नवजागरण के वाहक भारतेन्दु ने भारत की सांस्कृतिक स्वत्व-रक्षा की प्रक्रिया में भारतीय राष्ट्रीयता की जो संकल्पना की, वह न केवल भारतेन्दु युग में, वरन् राजनीतिक स्वाधीनता के बाद भी सांस्कृतिक उपनिवेशवाद से पूरी तरह मुक्त न हुई भारतीय स्वत्व-रक्षा के लिए आज भी हमारे सामने बड़े सजग रूप में प्रासंगिक होती है ।

xxxx

अध्याय - 2

" साहित्य, समाज और राजसत्ता "

साहित्य में रचनाकार का व्यक्तित्व अभिव्यक्त होर प्रत्येक साहित्यक कृति को अपनी एक अलग पहचान देती है । इस व्यक्तित्व के गठन में अपने समाज की भूमिका का आँकलन होता है । अर्थात् यह व्यक्तित्व ही समाज से निर्धारित होता है । रचनाकार- लेखक या कवि जिस समाज में रहकर उस का सूक्ष्मता से अनुभव करता है उसी को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है । इससे साहित्य में किसी-न-किसी रूप में तत्कालीन समाज के रूप तथा चित्रण मिलते हैं । और इस साहित्य में अभिव्यक्त समाज को देखने वाले या पढ़ने वाले भी उसी समाज में रहने वाले पाठक या श्रोता होते हैं । यानी कहने का मतलब है कि साहित्य पूर्णत: मानव केन्द्रित है और यह मानव समाज में ही रहता है । इस तरह साहित्य और समाज के निकटवर्ती संबंध का मूल कारण ही " व्यक्ति " होता है ।

मगर सिर्फ साहित्य में समाज का रूप चित्रित होने से साहित्य और समाज का संबंध स्थापित नहीं होता । बल्कि साहित्य में समाज-चित्रण के अलावा समाज में रहने वालों के जीवन, मानसिकता, चेतना, सत्ता और मूल्य आदि की अभिव्यक्ति भी होनी चाहिए । इससे साहित्य की उत्पत्ति तथा स्वरूप निर्धारण करने वाली शक्ति भी मिलती है ।

समाज परिवर्तनशील है । इसलिए जैसे समाज बदलता है, वैसे ही साहित्य अथवा साहित्य के रूप तथा प्रवृत्तियाँ भी बदलती हैं । साहित्य और समाज में मौजूद इस परिवर्तनशीलता के कारण दोनों के बीच अधिक

निकट संबंध बनता है । आधुनिक काल में यह परिवर्तनशीलता साहित्य और समाज दोनों में अधिक तीव्र दिखाई देती है । इस से साहित्य और समाज का संबंध भी अधिक गहरा दिखाई देता है ।

आधुनिकीकरण की प्रबल शक्तियों से साहित्य तथा समाज में नई विचारधाराएं उद्भूत हुई । नये परिवेश से उत्पन्न हुई विचारधाराओं से प्रेरित नए सामाजिक और साहित्यिक आन्दोलनों के फलस्वरूप जब समाज में ईश्वर और धर्म के प्राचीन सिद्धान्त डगमगाने लगे तब उन्हीं आस्थाओं पर निर्मित साहित्य के पुराने सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सके । इससे आधुनिक युग के साहित्य में यथार्थपूर्ण आधुनिक भावना के अनुकूल पुराने अलौकिक विषयों के साथ लौकिक अर्थात सामाजिक विषयों को भी स्थान मिलने लगा । इसके साथ साहित्य में समाज का और समाज में रहने वालों- विशेषकर समाज के जन-साधारण लोगों के जीवन का यथार्थपूर्ण चित्रण होने लगा । जब साहित्य में जन-साधारण को स्थान दिया गया, तो युग के व्यापक प्रभाव से साहित्य में पुराने विषय तथा पुरातन सिद्धान्त भी क्रमशः बदलने लगे । इसके फलस्वरूप समाज का साहित्य से अधिक निकट संबंध होने लगा । यही आधुनिक साहित्य की न केवल सबसे बड़ी विशेषता है, वरन् उसका पुराने साहित्य से सबसे बड़ा अन्तर भी माना जाता है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास क्रम में प्रत्येक युग के समाज बदलते रहे, उसी के साथ साहित्य के स्वरूप, विषय, भाषा, उसमें चित्रित प्रत्येक समाज का रूप और उसका समाज से संबंध आदि भी बदलते रहे । आगे हमें देखना होगा

कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग के पहले- आदि काल, भक्ति काल तथा रीति काल - हर युग में साहित्य का अपने समाज से कैसा संबंध रहा तथा समाज का चित्रण साहित्य में किस तरह हुआ । ताकि आधुनिक युग में साहित्य तथा समाज का संबंध, साहित्य में चित्रित समाज का रूप, सामाजिक चेतना, समाज में रहने वाले जन-साधारण की मानसिकता आदि जैसी आधुनिकीकरण से उत्पन्न नयी साहित्यिक विचारधारा अर्थात "सामाजिकता" और इससे आगे " राष्ट्रीयता" का अधिक सहज निर्माण हो सके ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल अव्यवस्थित सामाजिक स्थिति का काल था । इस युग के समाज में आम जनता निर्धन, अशिक्षित और पीड़ित थी । पर राजागण परस्पर तथा विदेशियों से लड़ते रहते थे। जनता की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी । धार्मिक स्तर पर सनातन धर्म रूढ़ हो चुका था । जन्म के अनुसार जाति का निर्णय होना समाज द्वारा मान्य किया जा चुका था । उच्च जाति के लोग निम्न जाति के लोगों को हेय समझते थे । नारी केवल भोग की वस्तु मानी जाती थी ।

ऐसी सामाजिक स्थिति में इस काल के साहित्य में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का सही चित्रण देखने को नहीं मिलता । यद्यपि इस काल के सिद्ध और नाथ-पंथी साहित्य में कुछ अंश तक तत्कालीन समाज का चित्र पाया जाता है । पर ऐसा साहित्य बहुत कम लिखा गया । इस काल के

साहित्य में वीर-रस प्रधान युद्धों का वर्णन अधिक था जिस में अपने आश्रयदाता राजाओं को युद्ध के लिए उत्तेजित करना तथा उनकी प्रशंसा करना ही कवियों के प्रमुख कार्य हुए थे। यानी इस काल का अधिकांश साहित्य वीर गाथाओं से ही संबंधित था। इसलिए रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के आरंभिक युग को रचना-प्रवृत्ति के आधार पर "वीर गाथाकाल" भी कहा था। इस तरह वीर-रस प्रधान आदि काल के साहित्य में उसी सामंती जीवन का अधिक चित्रण होना स्वाभाविक था, जिस का तत्कालीन लोक समाज तथा जन-जीवन के साथ कोई संबंध नहीं बन रहा था।

भक्ति काल में निर्गुण भक्तों के संत कवियों को देखें; यद्यपि उन लोगों का मत समाज के निम्न वर्ग के अशिक्षित लोगों के बीच अधिक प्रचलित होने से कबीर के सिवा अधिकतर संत कवियों में साहित्यिकता का अभाव है।[1] फिर भी उनकी वाणी में जाति-पाँति और वर्णभेद जैसी अपने समाज की रूढ़ियों तथा विडम्बनाओं के डटकर विरोध की आवाज मिलती है। उन्होंने तत्कालीन रूढ़ि, परंपरा, मिथ्या आडम्बर एवं अन्धविश्वासों की कटु आलोचना भी की थी। कबीर ने तो हिन्दुओं की वर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात करने के सिवा हिन्दू-मुसलमान जन-जीवन की एकता को रेखांकित करने आदि समाज-सुधार जैसा प्रयत्न भी किया था। इसलिए संत कवियों को समाज

---

1. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय-" हिन्दी साहित्य का इतिहास", पृ0 130

सुधारक के रूप में भी कहा जाता है । सूफी कवियों ने भी लोक-पक्ष पर अधिक बल देकर अपने प्रेम-काव्यों में लोक-जीवन का चित्रण किया है; तत्कालीन समाज के सर्वसाधारण के बीच अंधविश्वास, मनोवृत्तियाँ, यंत्र-तंत्र प्रयोग, विभिन्न लोकोत्सव, लोकव्यवहार, तीर्थ, व्रत जैसा सांस्कृतिक वातावरण उनके काव्यों में बड़ी सफलता के साथ अंकित किया गया ।

सगुण सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करते हुए भी अपने काव्य में लोक-जीवन का सम्यक् चित्रण किया है । तुलसी जैसे राम-भक्त कवियों ने अपने काव्य में लोक जीवन से संबंध प्रस्तावित करने का प्रयत्न किया । इसके फलस्वरूप तुलसीदास मध्य-कालीन हिन्दी साहित्य में लोक नायक तथा लोक के प्रतिनिधि कवि सिद्ध हो गये । कृष्ण भक्तों के काव्य में यद्यपि तत्कालीन जटिल स्थितियों और समस्याओं की कोई छाप नहीं मिलती-- यानी वे मथुरा और आगरा में बैठे हुए भी दिल्ली में होने वाले घात-प्रतिघातों से लगभग अछूते रहे थे, फिर भी उन के काव्य में अभिव्यक्त लोक जीवन का सुन्दर रूप भली-भाँति मिल जाता है, जिस में तत्कालीन मथुरा और आगरा के समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक चित्रण और लोक-जीवन का सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है ।

लेकिन सामान्य रूप में मध्य काल के समाज में कितनी उथल-पुथल हुई, कितने विदेशी आक्रमण हुए, कितने धार्मिक और राजनैतिक अत्याचारों से जन-साधारण लोग पीड़ित हुए, अधिकतर कविगण इन सब से उदासीन रहकर काव्य में भक्ति और शृंगार की अजस्रधारा बहाते रहे । यद्यपि निर्गुण

संत कवियों में लोक जीवन का चित्रण करने का प्रयत्न मिलता है, फिर भी उन्होंने निरपेक्ष दृष्टि से समाज की स्थिति और उसकी समस्याओं का विवेचन लगभग नहीं किया । उनकी वाणियों में पीड़ित, ब्राह्मण, काजी तथा मुल्ला आदि को जिस प्रकार की चुनौती दी गई है और जिस भाषा का प्रयोग किया गया है उस में भी अव्यवस्थित अपने समाज के हित उनकी वाणियों का लक्ष्य नहीं हो पाया । कुल मिलाकर भक्ति काल के काव्य में अस्थिर तथा अव्यवस्थित युगीन स्थिति के कुछ यथार्थपूर्ण वर्णन होने के बावजूद भी व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास के लिए अथवा सामाजिक प्रगति के लिए या युगीन समस्याओं का सामना करने के लिए तत्पर प्रयत्न नहीं दिखाई देता है ।

रीतिकाल में तो श्रृंगार और प्रेम ही काव्य की प्रमुखता थी । राज्याश्रय में रहने वाले कवि राजाओं के मनोरंजन के लिए श्रृंगार की कविताएं ही लिखते थे । रीति कालीन श्रृंगारी काव्य में प्रमुख रूप में राधाकृष्ण के नाम पर तत्कालीन नर-देवों के वैभव-विलास और श्रृंगारिक प्रवृत्तियों का नग्न प्रदर्शन मिलता है । इसलिए सामाजिक पक्ष से तो रीति काव्य का बिल्कुल अनमेल दिखाई देता है । रीतिकालीन काव्य की इस असामाजिकता पर हजारी प्रसाद द्विवेदी की टिप्पणी थी --" उत्तर कालीन(रीतिकालीन) हिन्दी कविता को हम लोक साहित्य नहीं कह सकते क्योंकि उस में प्रत्यक्ष लोक-जीवन से स्फूर्ति और प्रेरणा पाने की क्रिया गौण है और लोक की चित्त भूमि पर उनकी सम्पूर्ण अधिकार भी नहीं था ।"[1]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी -"हिन्दी साहित्य की भूमिका ", पृ० 108

रीति काल के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिसे आधुनिक काल कहा जाता है, उसका आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र के उदय से माना जाता है। इसलिए सामान्यत: आधुनिक काल के उपविभाजनों में से पहले चरण का नाम दिया गया है " भारतेन्दु युग "।

मगर यद्यपि हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय से माना जाता है, फिर भी इस का मतलब यह नहीं कि भारत में आधुनिकीकरण भी भारतेन्दु युग में पहली बार शुरू हुआ। भारत में आधुनिकता का आरम्भ रीतिकाल के अंत में जब अंग्रेज आने लगे, तब से माना जाता है। यानी भारत में आधुनिकता अंग्रेजी उपनिवेशवाद की उपज थी। अंग्रेजों के आगमन से भारतीय समाज नयी आर्थिक व्यवस्था, औद्योगिकता, संचार-सुविधा, प्रेस और शिक्षा आदि नये परिवेश से परिचित होने लगा। तथा अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत उत्पन्न इन नई परिस्थितियों से जाग्रत भारतीय समाज अपने पुराने ढाँचे को तोड़कर नये युग की ओर मोड़ने लगा। इससे परंपराएं टूटने लगीं। लोगों को पुरानी स्थिर व्यवस्था से छूटकर भारतीय समाज की नूतन गत्यात्मकता का अनुभव होने लगा। इससे परिवर्तन की अनिवार्यता को महसूस करना पड़ा। नये परिवेश में ऐतिहासिक माँग के फलस्वरूप लोग अपने को नए ढंग से ढालने लगे।

इस तरह भारत आधुनिक युग में प्रवेश करने लगा, तो सब से पहले हमें यह दिखाई देता है कि भारतीय आधुनिकता मध्य कालीनता से नवीन-समय

की ओर मोड़ने की सूचना है । अर्थात् आधुनिकता काल प्रवाह का विशेष गुण है । जब समय बदलता है, तो ऐतिहासिक विकास-क्रम में परिवर्तन अनिवार्य है जो कभी अच्छाई की ओर उन्मुख हो सकता है और कभी हीनता की ओर भी । जब इतिहास अच्छाई की ओर चलता है, तब विकास की परिकल्पना जरूर की जाती है । आधुनिकता में इस विकास के लिए सजग प्रयत्न निहित होता है । यों परिवर्तन और विकास से आगे का चरण आधुनिकता का दृष्टिकोण है । तथा आधुनिक काल के नामकरण की सार्थकता भी इसी बात में है कि यही समाज, देश, संस्कृति और साहित्य के संदर्भ में विकास का सजग प्रयत्न है ।

इस अध्याय में हमारा मुख्य प्रश्न है कि यह विकासशील आधुनिकता भारतेन्दु युगीन साहित्य में किस तरह प्रकट हुई । सामान्य रूप में भारतेन्दु युग के हिन्दी साहित्य में परिव्याप्त सब से प्रमुख कसौटी यही मानी जाती है कि इस समय आधुनिकता के प्रवेश से उत्पन्न सामाजिकता के द्वारा साहित्य और समाज के अभिन्न संबंध का प्रथम परिचायक हुआ । नये सामाजिक परिवेश से युगानुकूल हिन्दी साहित्य में भी नयी विचारधारा-अर्थात् सामाजिकता का प्रवेश होने लगा । यद्यपि आधुनिक युग का प्रारंभिक समय में-ऐतिहासिक दृष्टि में सन् 1857 ई॰ तक का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका के रूप में माना जाता है -- परिस्थितियों की विशृंखलता के कारण न तो कोई महत्वपूर्ण नवीन साहित्यिक धारा मिलती है, न ही कवियों में नवीन विचारों की प्रेरक मौलिक प्रतिभा का दर्शन होता, फिर भी इस नवीन

सामाजिक परिवेश तथा इससे उत्पन्न नीवन सामाजिक चेतना से साहित्य भी नये चाल में ढालने लगा । और इस परिवर्तनों का परिणाम हिन्दी नवजागरण के दौरान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के यहाँ मौलिक रूप में दिखाई देने लगता है ।

आधुनिक पश्चिम के संपर्क में आने से जागृत भारतीयों को अपने समाज के अंदर आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि स्तरों की कुरीतियों तथा समस्याओं के बारे में चिन्तित होने लगा । इस लिए सर्वप्रथम उसी के सुधार की ओर उनका ध्यान गया । भारतेन्दु युग के नवजागरण कालीन साहित्य के अंदर सामाजिकता का सब से प्रमुख चिह्न भी इस समाज सुधार की चेतना में ही दिखाई देता है । अपने समाज में कई स्तरों की दुर्दशा को सुधारने की प्रबल इच्छा भारतेन्दु युगीन नवजागरण काल के साहित्य का महत्वपूर्ण विषय बनी थी । इस समाज-सुधारवादी भावना में युग की समस्याओं का व्यापक विवेचन, देश काल के अनुसार आवश्यक परिवर्तन तथा वर्तमान जीवन को समृद्ध बनाने के साधन उपलब्ध कराने की चेष्टा सन्निहित थी ।

अपने समाज के बारे में इस जागृत चेतना से ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्य समाज जैसे समाज-सुधारकों की अवधारणा हुई । इन में से विशेषकर आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती का योगदान उल्लेखनीय है । समाज सुधारवादी क्षेत्र में यह समय स्वामी दयानंद का युग था । तथा

उनका प्रभाव भारतेन्दु के अलावा उस समय नवीन शिक्षा की सहायता से अपने समाज के प्रति आत्म-सजग अनेक भारतीय युवकों पर भ गहरे रूप में पड़ा था । उन लोगों ने अपने समाज को अंधपतन से बचाने के लिए समाज के अन्दर चलती अनेक कुरीतियों को समाज के पतन का कारण समझकर उन्हें सुधारना चाहा । इसलिए समाज सुधारवादी कार्य क्रम में मुख्य रूप से नारियों और अछूतों को परंपरागत रूढ़ियों से मुक्त करना तथा इसके साथ ही जाति-भेद के बंधन से भी समाज को नजात दिलाने के लिए वे संकल्प थे ।

समाज सुधारकों ने सर्वप्रथम उस जाति-प्रथा का विरोध किया था, जिस के जोहरों में मध्यकाल में समाज जीवन का प्रवाह रूककर सरकने लगा था । केवल मध्य काल में ही नहीं, वरन् आधुनिक युग में भी भारतीय समाज का सारा ढाँचा इस जाति-प्रथा पर खड़ा हुआ था । जाति-प्रथा के अंदर भारतीयों के बीच ऊँच-नीच के भेदभाव से उत्पन्न अनेक बुराइयों में से एक थी कि इस मान्यता के कारण निम्न जाति के व्यक्तियों की आत्म-गौरव की भावना को जाति-प्रथा ने बुरी तरह कुचल डाला था । इसलिए निम्न जातीय लोगों में आत्म गौरव की भावना भरने तथा उन लोगों की सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए जाति-प्रथा को जड़ मूल से सुधारना समाज सुधारकों का प्रमुख कार्य था ।

नवजागरण काल में वैचारिक स्तर पर अनेक लेखकों ने जाति प्रथा की बुराइयों की आलोचना की है । स्वामी दयानंद सरस्वती ने समाज में

दलित वर्ग को उसकी न्यायपूर्ण अधिकार दिलाने का अत्यधिक प्रयत्न करते हुए जन्मना मानी जाने वाली जाति-प्रथा का खंडन किया है ।उन्होंने ईश्वर के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति मानने वाले सनातन धर्मियों को करारा जवाब देते हुए लिखा था कि --" जैसे और सब लोक गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं जैसे तुम भी हो ।"[1] यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जाति-प्रथा की बुराइयों के निन्दक होते हुए भी दयानंद की तरह जन्मना मानी जाने वाली जाति व्यवस्था को उखाड़ने के पक्षपाती नहीं थे, फिर भी उन्होंने जाति-प्रथा के ऊँच-नीच के भेदभाव को दृष्टि में रखकर खंडन किया- -जाति अनेकन करी नीच अरू ऊँच बनायो ।"[2] उन्होंने जाति- प्रथा की भेद-भावना में डूबे हुए उच्च जाति के हिन्दुओं को उपदेश देते हुए समझाया था -" छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए ।"[3]

हिन्दू धर्म के अन्दर जाति-प्रथा का ही एक घृणित पहलू छुआछूत की भावना है । इस छुआछूत की भावना के कारण विदेश यात्रा का विरोध, खान-पान के संबंध में अनेक बंधन आदि सामाजिक बुराईयाँ चलती थीं । इन सब का स्वामी दयानंद ने घोर विरोध किया था । तथा भारतेन्दु ने भी छुआछूत का खंडन करते हुए एक स्थान पर लिखा है --

" यारो यह नहिं सच्चा धरम ।
छू छू कर या मूँद कर जोकि बढ़ाया भरम ।"[4]

---

1. दयानंद ग्रंथमाला-प्रथम खण्ड, पृ0 112
2. भारतेन्दु समग्र , पृ0 211
3. वही, पृ0 973
4. वही, पृ0 553

जाति-प्रथा के बाद भारतीय समाज में दूसरी महत्वपूर्ण समस्या नारी विषयक है । मध्यकाल में निवृत्तिपरक विचारधारा के कारण नारी की स्थिति उत्तरोत्तर गिरती चली गई थी । भारतेन्दु के जमाने में भी नारी की इस स्थिति में इतना परिवर्तन नहीं हुआ था । नारी संबंधी अनेक समस्याओं में से बाल विवाह की प्रथा भारतेन्दु के काल में भी प्रचलित थी । बाल विवाह के साथ इस काल में विधवाओं की समस्या भी विद्यमान थी ।बचपन में मृत्यु-दर अधिक होने के कारण समाज में बहुत बड़ी मात्रा में बाल विधवाएं थीं । गर्भस्थ बालकों की सगाई के कारण तो कभी-कभी कुछ कन्याएं बालविधवा के रूप में ही जन्म लेती थी ।स्वामी दयानंद के साथ भारतेन्दु भी समाज में चलती हुई नारी संबंधी इन कुरीतियों को सुधारना चाहा । उन्होंने बाल विवाह के अलावा इन अक्षतयोनि विधवाओं के विवाह का भी समर्थन किया है । तथा भारतेन्दु ने विधवा विवाह का विरोध अनुचित समझकर स्थान-स्थान पर विधवा विवाह का समर्थन भी किया है । इस प्रसंग में वे कहते हैं —" विधवा का विधिपूर्वक विवाह न हो, फूँटी सहेंगे आंजी न सहेंगे।"[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने फिर लिखा है- " विधवा विवाह निषेध कियो विभचार प्रचारयो ।"[2]

यद्यपि भारतेन्दु काल से बहुत वर्ष पहले सन् 1829 ई. में सती प्रतिबंधक कानून बना था, पर कभी-कभी सती होने की घटनाएं होती थी । सन् 1877 ई. में महाराज जंगबहादुर के मरने पर उनकी रानियाँ सती हुई थीं । इस प्रसंग पर यद्यपि भारतेन्दु ने सती महिमा का गान किया,[3] पर फिर भी

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 836
2. वही, पृ0 475
3. वही, पृ 0 89

भारतेन्दु ने अनुचित ढंग या उद्देश्य से समाज में चलती हुई सती-प्रथा का विरोध किया ।

भारतीय स्त्रियों की इस बुरी स्थिति को सुधारने के लिए भारतेन्दु ने सर्वोत्तम उपाय स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया है । भारतेन्दु लड़कियों को पढ़ाने के पक्ष में अवश्य थे । उस समय स्त्री-शिक्षा प्राय: इस तरह हुई, जैसे गृहकाज को भली-भाँति सम्पन्न करने और धर्म ग्रंथों को पढ़ाने में सहायक हो । भारतेन्दु इस तरह की स्त्री-शिक्षा से संतुष्ट न होकर कहते हैं -- "किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है ।"[1] वे " नारि-नर सम होई "[2] का प्रतिपादन करते थे । उन्होंने नीलदेवी के सम्पूर्ण में अंग्रेजी स्त्रियों के गुणों की चर्चा करते हुए चाहा कि भारतीय स्त्रियाँ भी अंग्रेजी स्त्रियों के समान पतियों के साथ घूमें ।[3] अर्थात वे स्त्री और पुरुष के बीच समान भावना, समान अधिकार चाहते थे । स्त्री-पुरुष के बीच इस समान अधिकार रखने वाले विचार के कारण ही उन्होंने धोबी के बचन से सीता का परित्याग करने वाले रामचंद्र के एकतरफा निर्णय के औचित्य पर शंका व्यक्त की है ।[4]

इस तरह नवजागरण काल में आधुनिक चेतना द्वारा जागृत भारतीयों ने एक तरफ अपने समाज के अंदर मौजूद पुरानी कुरीतियों तथा समस्याओं

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1013
2. वही , पृ0 479
3. वही, पृ0 479
4. वही, पृ0 210

पर आत्म-सजग होकर समाज - सुधार का प्रयत्न किया, जो भारतीय आधुनिकीकरण का पहला चरण माना जाता है । तो दूसरी ओर इस जागृत चेतना से अंग्रेजी उपनिवेशवादी ढाँचे के अंतर्गत उत्पन्न भारतीय समाज की अव्यवस्था, समस्याओं तथा दुर्दशा के बारे में भी भारतीय लोग जगने लगे । अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत उत्पन्न नई गतिविधियों से भारतीय समाज में सबसे प्रमुख परिवर्तन आर्थिक स्तर पर था । इससे समाज में पुराना सामन्ती ढाँचा टूटने लगा । तथा नए औपनिवेशिक आर्थिक ढाँचे की स्थापना होने लगी । इस स्थिति में समाज में जो आम जनता पुरानी सामंती व्यवस्था के अंतर्गत पीड़ित थी, वह नयी उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण के अंदर अधिक पीड़ित तथा निर्धन होने लगी ।

इस स्थिति में भारतीय समाज में आर्थिक अव्यवस्था को सुधारने की कामना उभरने लगी । इस के कारण जाति-प्रथा और नारी संबन्धी सामाजिक विषयों के अलावा उपनिवेशवादी आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न समस्या तथा इससे पीड़ित सामान्य भारतीय जनता की ओर भी साहित्यकारों का ध्यान गया । इससे नवजागरण कालीन साहित्य में एक तरफ अंग्रेजों के आर्थिक शोषण से अनजान होकर अलसाये हुए भारतीयों को जगाने का आग्रह मिलता है --" देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैण्ड, फ्रांसीस, जर्मनी,अमेरीका को जाती है । दीआसलाई ऐसे तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है । जरा अपने

को देखो ।"[1] तो दूसरी तरफ अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरूद्ध उत्पन्न स्वत्व-रक्षा की भावना से नवजागरण कालीन साहित्यकारों ने स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने पर भी बल दिया । " जीवन विदेश की वस्तु ले ता बिनु कुछ नहिं करि सकत "[2] के प्रतिपादक भारतेन्दु ने "प्रबोधिनी" शीर्षक कविता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रत्यक्षा रूप में प्रेरणा दी है ।

इस तरह हिन्दी नवजागरण के दौरान भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के साहित्यकारों ने सामाजिक जीवन की उपेक्षा न कर समाज में आम जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहली बार व्यापक रूप में ध्यान दिया । इसके पूर्व रीति काल तक के हिन्दी साहित्य में राजाओं और सामन्तों के आश्रय में लिखित दरबारी काव्य में सामाजिक परिवेश के चित्रण की ओर नगण्य रूप में ध्यान दिया गया था । नवजागरण काल में साहित्य की यह पुरानी प्रवृत्ति बदलकर जो साहित्य सदियों से आभिजात्य वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा था, वह समाज के निम्न-मध्य वर्ग अर्थात जन सामान्य के बीच आया । इससे आधुनिक युग का साहित्य समाज का मूक दर्पण ही नहीं, अपितु समाज की यथार्थ स्थिति तथा समाज में रहने वाली आम जनता और उसकी सामाजिक तथा मानसिक स्थिति एवं चेतना का चित्रण भी करने लगा । इसके फलस्वरूप आधुनिक साहित्य में अकाल, टैक्स, बेकारी, निर्धनता तथा अशिक्षा आदि से पीड़ित सामान्य लोगों को स्थान दिया गया । इस वातावरण में जुलाई 1881 ई॰ में " हिन्दी प्रदीप " में भारतेन्दु

1॰ भारतेन्दु समग्र, पृ0 1013
2॰ वही, पृ0 211

मण्डल के प्रमुख साहित्यकार भट्ट ने एक लेख लिखा जिस का शीर्षक था- "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है ।" लेख के इस शीर्षक में नव-जागरण कालीन साहित्य की नयी धारणा की घोषणा है । यह धारणा एक ओर साहित्य की शास्त्रीय धारणाओं की चुनौती है, तो दूसरी ओर भारतेन्दु युगीन साहित्य की प्रमुख विशेषता का सूचक भी है ।

इस तरह समाज में आर्थिक स्तर पर पीड़ित जन साधारण की स्थिति को सुधारने की कामना से भारतेन्दु का एक और महत्वपूर्ण कार्य निकलता है कि अपने समाज की दुर्दशा को सुधारने से तथा समाज में रहने वाली आम जनता की दुर्दशा को सुधारने से समाज-उन्नति की संकल्पना उन के साहित्य का प्रमुख प्रयोजन रहा है । इसके फलस्वरूप नवजागरण काल के साहित्यिक कार्य में समाज-सुधार, सेवा, कल्याण और उन्नति आदि की भावनाएं प्रवृत्त हुईं । इसके कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में यदि समाज सुधारवाद के क्षेत्र में स्वामी दयानंद का युग हो, तो इस का अधिक प्रौढ़ या विकसित रूप नवजागरण काल में भारतेन्दु के यहाँ समाज सुधार से आगे समाज-उन्नति जैसी विकासशील चेतना में दिखाई देता है । जैसे भारतेन्दु पुकारते हैं --" और वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो । धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल-चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारत वर्ष की सब अवस्था, सब जाति सब देश में उन्नति करो ।"[1]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1012

भारतेन्दु की इस समाज-उन्नति की चेतना में मौजूद महत्वपूर्ण बात यह है कि अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंदर जागृत भारतीय अस्मिता-बोध । नवजागरण काल में समाज-उन्नति के साथ इस आत्म गौरवपूर्ण भारतीय अस्मिताबोध से विकसित "भारतीयता" भारतेन्दु की विकासशील चेतना का परिणाम है । इसके फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक के अलावा आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि समस्याएँ भी अभिव्यक्त होने लगीं, जो आगे राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि बनती है ।

आधुनिक युग में समाज में नयी परिस्थिति के साथ अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारतीय युवक इतिहास, भूगोल, गणित तथा अन्य विषयों के अध्ययन द्वारा मानसिक तथा बौद्धिक स्तर पर भी विकसित होने लगे । उनके जीवन में नए आदर्श, नयी उमंगों तथा नए विचारों का विकास होने लगा। इस तरह समाज में नयी परिस्थिति तथा लोगों की नयी विचार से साहित्य में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक था । युगानुकूल इस नयी प्रवृत्ति के कारण नवजागरण काल के हिन्दी साहित्य में मध्य कालीन भाषा, शैली, विषय और वस्तु आदि सब में क्रमश: परिवर्तन उपस्थित होने लगा ।

नवजागरण काल में भारतेन्दु के समय हिन्दी साहित्य की स्थिति थी; एक ओर वह मध्य काल तथा रीति काल के दरबारी कवियों द्वारा लिखित श्रृंगारपूर्वक ब्रज भाषी काव्य थे जिनकी साहित्यिकता दरबार में राजाओं और सामंतों के मनोरंजन के लिए रचित होने से गिरती रही थी । दूसरी ओर तो भारतेन्दु युग तक आधुनिक साहित्य का प्रौढ़ रूप न हुआ था ।ऐसी साहित्यिक

स्थिति के कारण भारतेन्दु न केवल समाज और देश की चिन्ता से ही चिन्तित थे, बल्कि वे तत्कालीन साहित्य की दिन पर दिन गिरती हुई अवस्था के बारे में भी चिन्तित थे ।

भारतेन्दु युग के साहित्य में पहले पद्य को देखें, तो उस समय श्रृंगारिकता तथा प्रेम-भावना के काव्य अधिक रचे गये थे । स्वयं भारतेन्दु के काव्यों में भी इस श्रृंगारिकता के अधिक्य होने से कुछ आलोचक उन्हें आधुनिक कविता के जन्मदाता नहीं मानते । पर यद्यपि भारतेन्दु के काव्य में श्रृंगारिकता का आधिक्य दिखाई देता है, फिर भी भारतेन्दु ने काव्य साहित्य की तत्कालीन स्थिति को सुधारने के लिए एक ओर काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान करने की कोशिश की । जैसे भारतेन्दु की " प्रेम माधुरी ", "प्रेम तरंग", " प्रेम प्रलाप " तथा " प्रेम पुष्पवारी " आदि कविताओं में अत्यंत सुन्दर शिष्ट, पद, सवैय और कवित्त हैं । उनकी स्फुट रचनाओं में भी श्रृंगार रस निरूपण सुन्दर है । उदाहरण के लिए नेत्रों की आकुलता, दर्शन पिपासा का सुन्दर वर्णन देखें;

" एक ही गाँव में बास सदा घर पास इहौं नहिं जानती हैं ।
पुनि पाँचयें, सातयें आवत जात की आस न चित में आवती हैं ।
हम कौन उपाउ करैं इनको हरिचन्द्र महा हठ ठानती हैं ।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।" [1]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 44

अथवा निराश प्रेम का अन्तिम निश्चय भी अत्यन्त करूण रूप में चित्रित है;

" धिक देह और गेह सबै सजनी जिहि के बस नेह को टूटनो है ।
उन प्रान पियारे बिनो इहि जीवहिं राखि कहा सुख लूटनो है ।
हरिचन्द जू बात ठनी सो ठनी नित के कलकानिते छूटनो है ।
तजि और उपाव अनेक अरी अब तो हमको विष घूटनो है ।"[1]

इसके साथ दूसरी ओर भारतेन्दु ने काव्य को पुराने दरबारीपन से निकालकर समाज की आम जनता से मिले-जुले लोक-जीवन के सामने खड़ा कर दिया । यही जीवन-प्राणधारा ही नवजागरण कालीन भारतेन्दु युग के काव्य साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है । इसके कारण भारतेन्दु युग के काव्य में रीतिकाल से भिन्न श्रृंगार और प्रेम भावना विषय और माध्यम के रूप में मध्य कालीन श्रृंखलाओं से मुक्त होकर नवीन रूप में प्रकट होने लगे । श्रृंगार तथा प्रेम काव्य अब अपने समाज,जनता, लोक-जीवन और देश के प्रति रच जाने लगे । इसके फलस्वरूप नायक-नायिकाओं के विलासपूर्ण चित्त वाष्प-पिंडों की भाँति तिरोहित हो गये । तथा अलंकार-लक्षण भी आकर्षण खो गये थे । इस तरह भारतेन्दु के यहाँ हिन्दी साहित्य के अंदर नायक-नायिका, नखशिख वर्णन, अलंकार भेद आदि की पुरानी परंपराएं धीरे-धीरे समाप्त होकर युगानुकूल नई काव्य परंपरा प्रचलित होने लगी ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 51

कुल मिलाकर नवजागरण काल के काव्यों में विधवाओं की दुर्दशा, अस्पृश्यता और नारी-शिक्षा आदि जैसे समाज-सुधारवादी विषय के साथ विदेशी शासन के विरूद्ध अपने समाज की उन्नति और मुक्ति की आकांक्षा जैसी वर्तमान जीवन की नई समस्याएं तथा नई मान्यताएं भी काव्य का विषय बनने लगीं । इस तरह नवजागरण काल के कवियों और काव्यों में मूल प्रवृत्ति तथा मूल संदेश समाज और साहित्य के सुधार तथा देश-प्रेम की भावना होने लगी । इसके फलस्वरूप भारतेन्दु युग के काव्य में श्रृंगारिकता के अलावा सामाजिक चेतना हास्य, भक्ति भावना और देश-प्रेम आदि अनेक नवीन धाराएं भी प्रचलित होने लगे ।

आधुनिक युग के काव्य में उपर्युक्त नवीन परंपरा, विषय और धाराओं के अनुकूल नयी काव्य-भाषा की आवश्यकता पड़ी । भारतेन्दु के जमाने में काव्य की भाषा में मुख्यत: अपभ्रंश तथा उर्दू-फारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग हो रहा था । इस भाषिक स्थिति में नवजागरण के दौरान समाज में जन साधारण के बीच बोली जाती अपनी निज भाषा--अर्थात् खड़ी बोली हिन्दी की ओर भारतेन्दु का झुकाव हो चला था; यद्यपि जिस में शुद्धता और स्थायित्व कम है;

"कहो रागिनी आज भारी जमावै,
मिले एक ले में सुगावैं बजावे ।
कहाँ भाँड कत्थक छिपे हैं बुलाओ,
मुबारक कहाओ बधाई गवाओ ।"[1]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 217

इस तरह भारतेन्दु द्वारा काव्य में खड़ी बोली का इस्तेमाल करने की कोशिश की गई थी । पर तत्कालीन युगीन स्थिति में भारतेन्दु ने अंतत: खड़ी बोली हिन्दी की सीमा-"अप्रौढ़ता" को स्वीकार करके ब्रजभाषा को अपनाया । फिर भी उन्होंने अपने काव्य में जिस ब्रज भाषा तथा अवधी को चुना, वे आधुनिक युग के नवीन चेतना और विषयों के अनुकूल सच्चा और सरल स्वरूप में जनता के सम्मुख रखने वाली भाषाएँ थीं ।

भारतेन्दु युग में नए प्रकार की काव्य- रचनाओं के अलावा गद्य साहित्य का आरम्भ भी हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का एक और सूचक है । इस युग के साहित्य में पाश्चात्य साहित्य के परिचय और सम्पर्क ने एक नवीन प्रेरणा या स्फूर्ति प्रदान कर नवीन साहित्यिक पद्धतियों के साथ गद्य रूप को भी जन्म दिया । भारतेन्दु जब जगन्नाथ धाम गये, तब उन्होंने देखा कि बंगाल के सामाजिक जीवन में नए ढंग की हलचल के साथ साहित्य के विविध अंगों का सर्जन भी होने लगा था । घर लौटकर सत्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने "कवि-वचन-सुधा" नाम की जो पत्रिका निकाली, उसमें पद्य के अलावा गद्य लेख भी छपने लगे थे ।

भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य के नवजागरण काल में न केवल गद्य शैली का आरम्भ करके नवीन मार्ग दिखाया, बल्कि उस का बहुमुखी विकास करने में भी प्रयत्न किया । इस युग में रचित गद्य साहित्य की प्रत्येक विधाओं- नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध तथा आलोचना आदि - के समीक्षात्मक परिचय से विशेषत: भारतेन्दु युग के सांस्कृतिक नवजागरण की चेतना और उसका

स्वरूप भी हमें स्पष्टता से मिलते हैं । इन सब गद्य विधाओं में साहित्यकारों का प्रधान लक्ष्य सरल, सीधे तथा यथार्थपूर्ण ढंग से तत्कालीन समाज और समाज-निवासियों की समस्याओं का आधुनिक दृष्टि से विवेचन करना रहा है । इस से हिन्दी साहित्य तत्कालीन समाज और जनता से अधिक निकट होने लगा । यानी नवजागरण कालीन हिन्दी साहित्य में गद्य शैली जन-जीवन के इस जागरण के बहुत क्षणों का साथ देने के लिए तत्पर हुई थी ।

अनेक गद्य विधाओं में से नाटक का संबंध जनता से सबसे अधिक निकट बनता है । इसलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग में न केवल आधुनिक हिन्दी नाटक का आरम्भी हुआ, बल्कि उसका विकास भी प्रमुख रूप में हो रहा था । नवजागरण-आन्दोलन के दौरान देश में जागृत चेतना फैलाने तथा तत्कालीन समाज की दुर्दशा से देशवासियों को सजग करने के लिए सर्वोत्तम साधन नाटक ही हो सका था । अ: भारतेन्दु युग में नाटकों की रचना बहुसंख्या में अनेक विषयों पर हुई थी । इनमें बाल-विवाह, धार्मिक कुरीतियों, रूढ़ियों तथा अन्धविश्वास जैसे सामाजिक-धार्मिक समस्याओं, पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण और अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन की बुराइयों को बड़ी यथार्थपूर्ण तथा हास्य-व्यंग्यभरी शैली में प्रस्तुत किया गया है । स्वयं भारतेन्दु के नाटकों का मूल उद्देश्य भी मनोरंजन के साथ ही जन-मानस को जगाना और आत्म-विश्वास दिलाना था; जैसे " वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" (1873) व "अंधेर नगरी" (1881) में हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में तत्कालीन समाज के धार्मिक पाखण्डों का खण्डन और सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किये गये हैं । "भारत दुर्दशा"

१।8801 में तत्कालीन भारत की दुर्दशा और समाज की समस्याओं को प्रत्यक्ष करके उनके मूल में काम करने वाली बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी गई है । तथा अपने ऐतिहासिक नाटक "नील देवी" १।881। में भारतेन्दु ने अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंदर भारतीयों को अपने इतिहास के बारे में आत्म-गौरव तथा स्वाधीनता की भावना उभार कर राष्ट्रीय चेतना की ओर भी जगाया था ।

भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण काल में सब से अधिक सफलता निबंध-लेखन में प्राप्त हुई है । भारत में अंग्रेजी राज्य के साथ सब से पहले बंगाल में इसका जन्म हुआ । तथा साहित्य-निर्माण का एक उपयोगी साधन समझकर हिन्दी भाषा-भाषियों ने भी इस का अवलम्बन लिया । इस युग के निबंधकारों का संबंध किसी न किसी पत्र-पत्रिकाओं से था । भारतेन्दु ने "हरिश्चंद्र मैगजीन" तथा "कवि-वचन-सुधा" आदि का सम्पादन किया । और इस युग के अन्य प्रमुख निबंधकार बालकृष्ण भट्ट ने " हिन्दी प्रदीप" तथा प्रतापनारायण मिश्र ने "ब्राह्मण" का सम्पादन किया था । इस समय निबंधकारों के सामने अनंत विषय थे — राजनीति, समाज-सुधार, धर्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव, महा-पुरुषों की जीवनियाँ आदि आदि । इस तरह नवजागरण काल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपे हुए उन निबंधो के द्वारा साहित्य का प्रचार राजसभाओं से उठकर आम जनता में भी होने लगा, जो सरल, सहज तथा यथार्थपूर्ण शैली से समाज में जन-साधारण के हृदय तक पहुँच सके थे ।

साहित्य के इन नयी विधाओं में युगानुकूल उत्पन्न नई चेतनाओं तथा

भावनाओं की अभिव्यक्ति करने के लिए लेखकों ने नई भाषा की आवश्यकता महसूस की है । इसके लिए उन्होंने शताब्दियों से हिन्दी क्षेत्र के संस्कार में बसी ब्रज-भाषा को छोड़कर नयी भाव-भूमि खड़ी बोली हिन्दी में उदित की है । क्योंकि नवजागरण के दौरान जन-मानस तक युग-चेतना को प्रेषित करने में खड़ी बोली हिन्दी ही सबसे अधिक सहायक मानी गई थी । इसके कारण अपने समाज में जनता के बीच सबसे अधिक प्रचलित खड़ी बोली हिन्दी को निज भाषा समझकर भारतेन्दु ने "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल "[1] का आग्रह किया । भारतेन्दु की इस प्रेरणा ने हिन्दी भाषा के आन्दोलन को वास्तविक जन-आन्दोलन का रूप दे दिया । इसी जन-आन्दोलन ने खड़ी बोली हिन्दी को न केवल साहित्य के क्षेत्र में, वरन् समाज में अथवा देश में उसे जन-भाषा बनाने की ओर बराबर उन्मुख बनाये रखा । इसके फलस्वरूप एक ओर ब्रज भाषा अपने श्रृंगार विह्वल रूप को लिए गद्य के क्षेत्र में न रह कर खड़ी बोली हिन्दी को अपना स्थान दिया । तथा दूसरी ओर उसे आगे चलकर गद्य के अलावा पद्य में भी - अर्थात् संपूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य की भाषा बनने की प्रेरणा भी मिली ।

कुल मिलाकर हिन्दी के लगभग एक हजार वर्षों के इतिहास में साहित्य की प्रेरक प्रवृत्तियां बदलती रही हैं । कभी यह प्रवृत्ति वीरता की भावना थी, तो कभी भक्ति की, फिर कभी श्रृंगार-रीति की । पर रीति काल के बाद साहित्यकारों ने समाज और देश की प्रत्येक सम-सामाजिक स्थिति से पूर्णतया परिचित होकर साहित्य की इन पुरानी परंपराओं या विषयों को अवसान का

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 228

सर्वप्रथम सूत्रपात किया । तथा साहित्य में जनवादी विषयों को महत्व देना शुरू किया । इससे नवजागरण कालीन हिन्दी साहित्य में दयानंद जैसे समाज-सुधारकों द्वारा प्रेरित समाज-सुधारवादी चेतना तथा इससे आगे भारतेन्दु के समाज-उन्नति जैसी विकासशील भावना प्रकट होने लगी ।

उपर्युक्त उन दोनों भावनाओं के प्रसंग में ध्यान देने की बात है कि वे भारतीय समाज और हिन्दी साहित्य में अंग्रेजों द्वारा लाए गए आधुनिकीकरण की उपज थीं । इसलिए उनके मूल में मौजूद होता है इस अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के विरूद्ध उत्पन्न भारतीय अस्मिता बोध । आगे चलकर यह अस्मिताबोध नवजागरण काल में आत्म सजग भारतवासियों के बीच स्वाभिमान की मात्रा बढ़ जाने से केवल व्यक्तिगत मात्रा में ही नहीं, वरन् अपने समाज और देश के प्रति भी संगठित रूप में विकसित होने लगी । इसके फलस्वरूप देश या राष्ट्र संबंधी विषय भी आधुनिक हिन्दी साहित्य में उत्पन्न होने लगा । इस तरह आधुनिक काल में उत्पन्न एक और नयी विचारधारा - अर्थात् राष्ट्रीय चेतना नवजागरण कालीन हिन्दी साहित्य के सब से प्रमुख तथा सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में खड़ी होती है ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रकट इस राष्ट्रीय चेतना की चर्चा करने से पहले हमें जरा विचार करना होगा कि "राष्ट्रीयता क्या है ?" राष्ट्रीयत की चेतना यूरोप में सबसे पहले उभरी थी । और यह अंग्रेजों के आगमन के बाद भारत में भी उत्पन्न हुई नई विचारधारा थी । पर भारतीय राष्ट्रीयता के उदय और विकास यूरोप से भिन्न दिखाई देते हैं । क्योंकि भारत के इतिहास

में अंग्रेजों के आगमन के पहले "राष्ट्र" या "राष्ट्रीयता" जैसी कोई चीज नहीं थी । यह भारत में अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत उत्पन्न आधुनिकीकरण की एक और उपज थी । इसलिए हमें पहले कुछ देखना होगा कि यूरोप में राष्ट्रीयता के जन्म और इसकी परिस्थिति कैसे हुए । ताकि भारतीय राष्ट्रीयता के स्वरूप को अधिक स्पष्टता से समझ सके ।

उन्नीसवीं सदी संसार के इतिहास को नई दिशा की ओर मोड़ने वाली शताब्दी थी । नाना प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों से इस शताब्दी में यूरोप का सामाजिक जीवन नई चाल में ढलने लगा । औद्योगिक क्रांति से बड़े-बड़े कारखाने खुले तथा वाष्प चालित जलयानों की सहायता से दूर-दूर के देशों से व्यापारिक संबंध बढ़ा । इससे समाज में वह व्यापारी वर्ग अतुलित धनशाली होने लगा, जो औद्योगिक क्रांति के बाद समाज में पैदा हुआ नया मध्य-उच्च वर्ग था । पर व्यापारी लोग धनशाली होने के बावजूद भी राजकार्य में हस्तक्षेप नहीं कर पाये थे । राजकार्य प्रधान रूप से राजकीय घरानों, जमींदारों और बड़े ताल्लुकेदारों के नियन्त्रण में था । इसलिए धीरे-धीरे नव शिक्षित व्यावसायिक वर्ग ने यह अनुभव किया कि राजसत्ता पर अधिकार जमाये बिना व्यापारी सुविधा नहीं हो सकती । इस स्थिति में सर्वत्र यूरोप में राजतंत्र के विरुद्ध विद्रोह हुआ । धीरे-धीरे प्रजातंत्र का रोब बढ़ता गया और सर्वत्र राजतंत्र शिथिल होता गया । इसी परिस्थिति में उस नवीन विचारधारा का जन्म हुआ जिसे "राष्ट्रीयता " कहते हैं । यूरोप में जन्म हुई इस विचारधारा ने धीरे-धीरे भारत के विचारशील लोगों को भी प्रभावित करना शुरू किया ।

पर भारतीय राष्ट्रीयता के उत्थान के संदर्भ में सोचने की बात है कि भारत के अलावा दुनिया के कुछ अन्य देशों में राष्ट्रीयता के उद्भव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि यूरोप से भिन्न है । ऐशिया, अफ्रिका और दक्षिण अमेरिका के अधिकांश देशों अर्थात् तीसरी दुनिया में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में "राष्ट्रीयता" उभरने लगी । उस समय तीसरी दुनिया के अधिकांश देश ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस तथा जापान आदि विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेश थे । ये पराधीन देश यूरोप के उपनिवेशवादी दबाव के कारण यद्यपि आधुनिक युग में प्रवेश करने का मौका मिला, पर दूसरी तरफ सामाजिक विघटन और सांस्कृतिक विरूपता के शिकार भी थे ।

इस स्थिति में एशिया, अफ्रिका और दक्षिण अमेरिका जैसी तीसरी दुनिया के पराधीन देशों की ऐतिहासिक दशा, आर्थिक अवस्था, सामाजिक वास्तविकता और सांस्कृतिक चेतना यूरोप से भिन्न ही नहीं, बल्कि कहीं उस से विपरीत या विरूद्ध भी थी । अर्थात् इन देशों के सामने न तो वह राष्ट्रीय यर्थाथ था और न वे समस्याएं थीं, जिन से यूरोप में राष्ट्रीयता का उत्थान तथा स्वरूप बने । यहाँ न पश्चिम जैसा आर्थिक विकास था, न बदलती हुई सामाजिक संरचना थी और न औद्योगिक क्रांति से पैदा हुआ मध्यवर्ग था ।

विशेषकर इन देशों के आधुनिक युग के प्रारम्भ में समाज के जन-साधारण लोगों को देखें, तो उनको न केवल उपनिवेशवादी शासन का, बल्कि अपने देशी सामंतवाद के शोषण का भी सामना करना था । क्योंकि इन देशों की बहुत कुछ

सामाजिक वास्तविकताओं और समस्याओं का संबंध देशी सामंतवाद से था, जिस का साम्राज्यवाद से गहरा रिश्ता बना हुआ । यानी साम्राज्यवाद अपने स्वार्थों के लिए सामंतवाद का पोषण और संरक्षण कर रहा था । इस स्थिति में भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीयता का उद्भव आम जनता के द्वारा नहीं, वरन् बाह्य दबावों से दिये गये आधुनिकीकरण के अंदर जागृत समाज के नये शिक्षित बुद्धिजीवियों द्वारा हुआ है, जिन का समाज में आम जनता से इतना निकट संबंध नहीं हुआ था ।

इस तरह तीसरी दुनिया के देशों में उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत उत्पन्न जागृत चेतना से जब राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था, उस समय आत्म सजग तथा युगीन परिवेश से सचेत बुद्धिजीवियों के सामने सब से बड़ी वास्तविकता यह थी कि बाह्य दबावों से राजनीतिक स्तर के अलावा सांस्कृतिक तथा धार्मिक आदि स्तरों पर देश पराधीन थे । इसके कारण उन लोगों के सामने अनेक समस्याएं थीं;उस पराधीनता से अपने स्वत्व की रक्षा करना और देश को मुक्त करना आदि । इस पराधीनता की वास्तविकता और मुक्ति की आकांक्षा अर्थात् स्वाधीनता की समस्या से इन देशों के समाज और जीवन की बाकी सभी वास्तविकताएं, आकांक्षाएं और समस्याएं जुड़ी हुई थीं । तथा यही स्थिति न केवल तीसरी दुनिया के प्रत्येक देशों के बुद्धिजीवियों, लेखकों और कलाकारों के लेखन का मुख्य लक्ष्य था, वरन् इन देशों के व्यापक जन-समुदाय का चरम मूल्य भी था ।

जब राष्ट्रीयता साहित्य का विषय बनती है, तो हमें सोचना होगा

कि " राष्ट्रीय साहित्य क्या है ?" तथा " साहित्य और समाज का इससे क्या संबंध है ? " ताकि साहित्य, समाज और राष्ट्र तीनों के बीच संबंध को समझा जा सके । पहले हिन्दी साहित्य कोश में देखें, तो उसमें "राष्ट्रीय साहित्य" की परिभाषा इस तरह की गई है --" राष्ट्रीय साहित्य किसी एक ही अर्थ का द्योतक नहीं कहा जा सकता । राष्ट्रीय साहित्य के अंतर्गत वह समस्त साहित्य लिया जा सकता है, जो किसी देश की जातीय विशेषताओं के परिचायक है । इस प्रकार के साहित्य में जाति का समस्त रागात्मक स्वरूप, उसके उत्थान-पतन आदि का विवरण आ सकती है ।"[1] अधिक स्पष्ट रूप में सामान्यत: आधुनिक अर्थ में जिसे राष्ट्रीय साहित्य कहते हैं, उसमें देश की सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परंपराओं से प्रेरणा ग्रहण करके, तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण एवं उसके द्वारा उज्जवल भविष्य के निर्माण के लिए जागरण का भाव व्यक्त होता है । इसलिए राष्ट्रीय काव्य धारा के अंदर पूर्ववर्ती एवं नवीन कवियों ने तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर सामान्य जन की मर्म-व्यथा को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है ।

यद्यपि राष्ट्रीयता के अंदर मौजूद बाह्य शक्ति या शासन के प्रति उत्पन्न विरोध की भावना तथा इससे उभरती हुई राष्ट्रीय एकता की भावना से कुछ विचारक भारत में राष्ट्रीयता का विकास क्रम मुस्लिम आक्रमण और इसके प्रति भारतीय प्रतिक्रिया से मानते हैं । पर सामान्यत: प्रचलित अर्थ में भारतीय

---

1. प्रधान सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा-" साहित्य कोश "- भाग 1, पृ0 711

राष्ट्रीयता आधुनिक युग की देन तथा आधुनिक साहित्य की एक प्रमुख और विकासशील प्रवृत्ति होती है । इसका कारण है कि भारत के इतिहास में मध्य काल के हिन्दू राजाओं ने मुसलमान से जो युद्ध किये, उनमें राष्ट्रीय उद्देश्य निहित था - ऐसा प्राय: सिद्ध नहीं हो पाता । क्योंकि उस समय समस्त भारत की रक्षा या उसके लिए कोई संगठित प्रयास हमें देखने को नहीं मिलता । इसके साथ मध्य काल में तो केन्द्रीय सत्ता के अभाव में "राष्ट्र "का रूप भी स्पष्ट नहीं था । इसलिए आधुनिक अर्थ में भारतीय राष्ट्रीयता का विकास मुसलमान आक्रमण से नहीं, वरन् 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही मानना तर्क संगत होगा, जब से भारत में " राष्ट्र" सम्बंधी विचार उत्पन्न होने लगा था । यह राष्ट्रीयता की प्रक्रिया आधुनिक भारत में 19वीं शताब्दी के मध्य से लेकर लगभग एक शताब्दी तक राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक गतिविधियों का नियमन करती थी । इसे हम सुधार और नवजागरण के साथ चलते हुए या उससे उत्तरवर्ती विकास के रूप में देख सकते हैं ।

शुरू-शुरू में भारतवासियों को आधुनिक अर्थ में राष्ट्रवाद का यह रूप स्पष्ट नहीं हुआ । क्योंकि वे इससे एकदम अपरिचित थे । किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पढ़े-लिखे भारतीय लोग इस बात को समझने लगे । आधुनिक काल में अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भारतीयों को अपने देश की दुर्दशा के साथ अन्य देशों की राजनैतिक उथल-पुथल का भी ज्ञान प्राप्त हुआ ; जैसे फ्रांस में भीषण क्रांति, इटली और स्पेन में वैधानिक राज्य की स्थापना आदि ।

भारतीय शिक्षित नव युवकों में इन सबसे प्रभावित होकर अपने राष्ट्र के प्रति गौरव तथा प्रेम की भावना जागृत होने लगी । तथा वे दूसरे देशों के समान अपने देश को भी स्वतन्त्र और समृद्धिशाली देखने की अभिलाषा करने लगे । इससे भारतीयों के बीच औपनिवेशिक ढाँचे के अंदर आर्थिक दुर्दशा से पीड़ित जनता की दुर्दशा को सुधारने की भावना, अंग्रेजों के खिलाफ देश-भक्ति तथा देश-उन्नति की भावना और इस से राष्ट्रीय एकता की भावना आदि जैसी राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न होने लगी । धीरे-धीरे काव्यों में, नाटकों में, उपन्यासों में और अन्य साहित्य विधाओं में भारतवर्ष की पराधीनता, उससे संबंधित समस्याओं और उस पराधीनता से देश को मुक्त करने वाली आधुनिक राष्ट्रीय चेतना प्रकट होने लगी ।

इस तरह राष्ट्रीयता का मूल-स्रोत "देश-भक्ति" एक विषय के रूप में भारतीय साहित्य-क्षेत्र में स्वीकृत पाता है उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय । भारतेन्दु के यहाँ न केवल राष्ट्रीय चेतना का भाव पहली बार उभरता है, वरन् आलोचनात्मक स्तर पर भी वे पहली बार उसका सजग रूप में विवेचन भी करते हैं । अपने महत्वपूर्ण निबंध "नाटक" से वे नाटक के नये विकास पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं --" इन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं यथा - श्रृंगार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार तथा देश-वत्सालता।"[1] " देश-वत्सलता" में देश के कुशल-क्षेम की चिन्ता का दायित्व जुड़ा हुआ है --" देश-वत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों या देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्राय: करूण और वीर रस के होते हैं।[2]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 558
2. वही , पृ0 559

देश-प्रेम, देश-वत्सलता और देश-भक्ति के बाद राष्ट्रीयता का भाव-बोध होता है । भारतेन्दु के समय तक कवियों की अधिकतर रचनाएं मुख्यत: ईश-वन्दना से संबद्ध होती थी । तथा वे भक्ति और श्रृंगार के साथ एकमेक होती थीं । इसलिए भारतेन्दु युगीन हिन्दी नवजागरण काल के कवियों ने अपनी आरंभिक रचनाओं का बड़ा भाग देश-वन्दना के लिए रखा और एक झटके के साथ अपने को क्रमश: देश-प्रेम तथा देश-भक्ति के साथ जोड़ा । इस प्रक्रिया में अपने समय की समस्याओं से टकराते हुए उन्होंने साहित्य को अपने समकालीन यथार्थ के ठोस आधार पर खड़ा किया । इसके कारण हिन्दी नवजागरण के प्रारंभ में देश-प्रेम अथवा देश-भक्ति से जुड़ी हुई राष्ट्रीय भावना मुख्यत: समाज-सुधार और धार्मिक सुधार दो रूप में प्रकट हुई थी । इन सामाजिक तथा धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों के माध्यम से भारतीय लोगों ने व्यक्तिगत स्वाधीनता, सामाजिक समानता तथा राष्ट्रीय स्वातन्त्रता के लिए संघर्ष करते हुए "भारतीय राष्ट्रवाद" को स्वरूप दिया ।

इस तरह नवजागरण कालीन साहित्यकारों ने सुधारवादी चेतना से समाज-जीवन और साहित्य की खाई को भरते हुए देश भक्ति के स्वर को जन-साधारण तक पहुँचाने का उल्लेखनीय प्रयास किया । साहित्य और देश पहली बार इस तरह आधुनिक काल के भारतेन्दु युग में एक-दूसरे से जुड़ते हैं । तथा जिस देश-भक्ति में प्रेम की अपेक्षा जन भी शामिल हो, उस रूप में देश-भक्ति भारतेन्दु के युग में पहली बार उभरती थी । इसके फलस्वरूप भारतेन्दु ने नवजागरण के दौरान हिन्दी साहित्य में भक्ति और श्रृंगार जैसे पुराने विषयों के साथ ही

समाज तथा देशहित की नयी उमंगों, रुचि और चेतना जैसे लोगों की बदलती हुई विचारधारा को साहित्य का विषय बनाकर साहित्य, जन-जीवन, समाज तथा देश में लगाव कायम किया ।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि नवजागरण कालीन हिन्दी साहित्य में उत्पन्न देश-प्रेम, देश-भक्ति एवं राष्ट्रीय भावना जैसी राष्ट्रीयता के मूल में थी अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंदर संकट में पड़ी भारतीय अस्मिता की रक्षा करना । विशेषकर सत्तावनी क्रांति की असफलता के बाद भारतीय लोग भारतीयता-अर्थात भारतीय अस्मिता पर आघात देखने लगे । भारतेन्दु तथा उस काल के हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि से अंग्रेजी राज्य केवल राजनीतिक स्तर पर ही नहीं, वरन् धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्तरों पर भी अभिशाप बनकर आया । इससे राजनीतिक स्तर के अलावा धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्तरों पर भी समाहित राष्ट्रीय भावना का साहित्य में उदय हुआ । इसके फलस्वरूप साहित्य के समस्त अंगों में देश की समसामयिक, राजनीतिक धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों की यथा तथ्य चेतना का वर्णन प्रमुख लक्ष्य बना । इसके लिए नवजागरण कालीन साहित्यकारों ने एक ओर पाखंड, अंधविश्वास, रूढ़िवाद आदि राष्ट्रीय प्रगति के अवरोधक तत्वों को मिटाने का प्रयत्न किया ।तथा दूसरी ओर उन्होंने भारतीय अस्मिता-बोध पर मूलाधारित "भारतीयता" की खोज अर्थात् राष्ट्रीय जागरण की भूमिका अपने साहित्य में प्रस्तुत की । इसके फलस्वरूप इस काल के साहित्य में राष्ट्रीयता उद्बोधक तत्वों का विवेचन मुख्यत: इन बिन्दुओं पर हुआ; प्राचीन गौरव की स्मृति, वर्तमान दुर्दशा, देश-प्रेम, राष्ट्रीय कार्य, भारतीय एकता तथा हिन्दी

निज भाषा का प्रचार आदि । आगे देखा जाएगा कि राष्ट्रीय चेतना उद्‌बोधन करने वाले इन तत्वों पर नवजागरण कालीन हिन्दी साहित्य में प्रकट रचनाकारों का विचारक्रम कैसा बना, जो भारतीय राष्ट्रीयता के विकास क्रम में आज के जमाने में भी चुनौती के रूप में बड़ा प्रासंगिक रहता है ।

हिन्दी नवजागरण के साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रेमधन और प्रतापनारायण मिश्र आदि साहित्यकारों ने अनेक ग्रंथों में अंग्रेजों द्वारा संकट में पड़ी भारतीय अस्मिता की रक्षा के लिए भारत के गौरवपूर्ण अतीत एवं वीरकृत्यों का उत्तेजनापूर्ण शब्दों में वर्णन किया । इन रचनाओं में प्रकट भारत के प्राचीन एवं आध्यात्मिक वीर-पुरूष और उनके कृत्य मुख्यत: वर्तमान दु:ख-मोचन के लिए स्मरण किये गये थे । जैसे भारतेन्दु कहते थे -

"कहँ गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर ।
चंद्र गुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिके थिर ।।
कहँ क्षत्रिय सब मरे जरे सब गये कितै गिर ।
कहँ राज को तौन सान जेहि जानत है थिर ।।
कहँ दुर्ग-सेन-धन-बल गये धूरहि धूर दिखात जग ।
जागो अब तो खल-बल-दलन रक्षहु अपनी आर्य-जग ।।[1]

अतीत गौरव की स्मृति के साथ नवजागरण कालीन साहित्य में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक दुर्दशा के प्रति क्षोभ की

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 475

भावना भी मिलती है । इसलिए साहित्यकारों ने यथार्थपूर्ण शैली में युगीन स्थितियों के अलावा देश की दुर्दशा के कारणों का भी विश्लेषण किया । उस समय उन लोगों के सामने देश की हीनावस्था के मुख्य दो कारण थे; पहले तो नैतिक पतन, सामाजिक एवं धार्मिक अवनति तथा सांस्कृतिक ह्रास जैसे देश के अंदर मौजूद आन्तरिक कारण थे । इसी कारण "भारत दुर्दशा," "वैदिक-हिंसा हिंसा न भवति " और "अंधेर नगरी" आदि नाटकों में सामाजिक कुरीतियों पर विचार कर भारतेन्दु ने देशवासियों को जगाना और देश की दुर्दशा को सुधारना चाहा । देश के अंदर अज्ञान, आलस्य तथा मूर्खता आदि के कारण दीन-दीन देशवासियों को देखकर उन्हें जगाने के लिए भारतेन्दु ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं --

"डूबत भारत नाथवेगि जागो अब जागो ।
आलस-देव गहि दहन हेतु चहूँ दिसि सों लागो ।।
महा मूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो ।
कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो ।।
अपनो अपनायो जानि के करहु कृपा गिरिवर धरन ।
जागो बलि वेहगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन सरन ।"[1]

इसके साथ अंग्रेजी उपनिवेशवादी दृष्टि के अंतर्गत भारतेन्दु के जमाने में आर्थिक तथा राजनीतिक पराधीनता की अभिशाप जैसे बाह्य कारण से भारत

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 211

राष्ट्र की दुर्दशा हो रही थी । उस समय राजनीतिक स्तर पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद का फैलाव तथा आर्थिक स्तर पर भारत को अपने एक बाजार के रूप में शासन करने वाले उपनिवेशवाद का फैलाव आदि जितना बढ़ते गये, उतना जन साधारण की दुर्दशा भी बढ़ती गई थी । इससे अधिक राष्ट्रीय भावना के प्रादुर्भाव का युग होने से और भीषण उपनिवेशवादी शासन से विदेश शासकों के प्रति विरोध की मात्रा अधिक व्यक्त करना भी संभव नहीं था । तथा सत्तावनी क्रांति के उपरांत महारानी विक्टोरिया द्वारा भारत देशहित की घोषणा के बाद भी आर्थिक विपन्नता में सुधार का सिद्ध न होने से भारतीयों की दुर्दशा अधिक गहरी हो रही थी । इस लिए भारतेन्दु के अनेक नाटकों, काव्यों तथा निबंधों में विदेशी राजत्व के कारण दुःखी प्रजा का सच्चा चित्र देखने को मिलता है । जैसे-

"कौड़ी कौड़ी को करूँ मैं सब को मुहताज ।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज ।।मुझे·
काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ, और बुलाऊं रोग ।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग ।। मुझे
फूट बैर और कलह बुलाऊँ, त्याऊँ सुस्ती जोर ।
घर घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घन घोर । मुझे·
काफ़र काला नीच पुकारूँ, तोडूँ पैर और हाथ ।
दूँ इनको संतोष खुशामद, कायरता भी साथ । मुझे·
मरी बुलाऊँ देस उजाडूँ, महँगा करके अन्न ।

सब के ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझ को धन्न ।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी ।"[1]

वस्तुत: पराधीनता भारत का दुर्भाग्य थी । इसी कारण "भारत दुर्दशा" नाटक में विदेशी शासन का प्रतीक भारत दुर्देव है । देश के राजनीतिक पतन तथा आर्थिक शोषण का मूल कारण भी यही था । इसलिए यद्यपि विदेशी शासकों के विरोध की मात्रा अधिक व्यक्त नहीं की गई, फिर भी भारतेन्दु काल में राजनीतिक पराधीनता के कारण उद्भूत देश-दुर्दशा की चित्रांकन साहित्य में किया गया । उसमें भारत की भाग्यवादी जनता अंग्रेजी साम्राज्य द्वारा बलात् लादे गये दु:ख और कष्टों को अपने जीवन में समेट कर निश्चेष्ट पड़ी थी । नवजागरण काल में जनता की इस सोई आत्मा को तथा उसमें देश-भक्ति की भावना को जगाने के लिए साहित्य में देश-दशा के प्रति करूणा की भावना को दिलाना था । इसलिए भारतेन्दु युगीन साहित्य में राष्ट्रवाद का अन्य प्रबल पक्ष था देश-प्रेम अथवा देश-भक्ति । इस संदर्भ में भारतेन्दु के "भारत-दुर्दशा" और " भारत जननी" तथा राधाकृष्ण दास के "महाराणा प्रताप" आदि नाटकों में देश-प्रेम की उत्कट भावना सहज ही लक्षित की गई है ।

सामाजिक तथा धार्मिक पतन के साथ देश को सांस्कृतिक हीनता का अनुभव भी हो रहा था । यानी अंग्रेजों के आगमन के साथ पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से भारतीय लोग अपनी भाषा और आचार-विचार का परित्याग कर

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 462

अंग्रेजी वेश-भूषा को अपनाने लगे । सामान्यत: अंग्रेजी राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान आधुनिक शिक्षा का प्रारम्भ माना जाता है । पर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कुछ भारतीय लोगों को देश की हर वस्तु हीन प्रतीत होने लगी। यह हीनता की भावना न केवल भाषा के क्षेत्र में कहीं अधिक प्रकट हो रही थी । वरन् अंग्रेजी शिक्षा के फैलाव के साथ बौद्धिक और सांस्कृतिक दासता भी बढ़ने लगी । इसलिए भारतेन्दु को कहना था कि -

"परदेशी की बुद्धि अरू वस्तुन की करि आस ।
परवस ह्वै कब लौ कहो रहिहौ तुम ह्वै दास ।"[1]

अंग्रेजी शिक्षा की दासता का एक अन्य परिणाम यह भी हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कुछ बुद्धिजीवी लोग स्वयं को न केवल अंग्रेजों के बराबर या कम से कम निकट बिठाना चाहते थे, बल्कि अपने को भारतीय जन साधारण से पृथक और वरिष्ठ वर्ग समझने भी लगे । इस तरह भारतवासियों में अंग्रेजी भाषा और संस्कृति की दासता देखकर भारतेन्दु फिर कहते हैं -" भीतर तत्व न झूठी मेजी, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेजी ।"[2]

इस युगीन स्थिति में भारतेन्दु ने अपनी निज भाषा की उन्नति को ही सब उन्नति का मूल मानकर स्वदेश तथा स्वदेशी भाषा और वस्तु के प्रति प्रेम बढ़ाने का आग्रह किया --" परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो । अपने देश अपनी भाषा में उन्नति करो । "[3]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 230
2. वही, पृ.229
3. प्रेमधन सर्वस्व, पृ0 903

इसके साथ भारतेन्दु युग में राष्ट्रीय निर्माण संबंधी कार्य भी किया जा रहा था - जैसे सन् 1885 ई॰ में सर्वप्रथम कांग्रेस की स्थापना से एक महान राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ -" इण्डियन नेशनल कांग्रेस" । इस संस्था ने आगे चलकर भारतीय चिन्ताधारा को बहुत प्रभावित किया और क्रमश: सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के प्रचार के उत्साह को राजनीतिक आन्दोलन के रूप में बदल देने में योगदान दिया । राष्ट्रवाद के विकास क्रम में इस कांग्रेस के उद्देश्य तथा मांगों का स्पष्ट रूप इस तरह दिखाई देते हैं कि इसके प्रथम अधिवेशन में ही साम्राज्यवाद की स्वार्थपूर्ण नीति का विरोध तथा भारत की राष्ट्रीय एकता के विकास का प्रयास किया गया था । इसके कारण तत्कालीन साहित्यकारों ने इस संस्था के प्रति विशेष हर्ष प्रकट किया था;

" विजय तुम्हारीअहै विजय जातीय समा की ।
सिगरे भारत की तासों गौरव अति मा की ।" [1]

इन सब के साथ भारतीयों के बीच उस राष्ट्रीय एकता की भावना को उत्तेजना भी नवजागरण कालीन साहित्यकारों का मुख्य विषय था, जो राष्ट्रीयता का मूलाधार है । उस समय अनेक स्तरों पर भारत-देश के अंदर साम्प्रदायिक भावना प्रचलित हो रही थी । जातिगत, भाषागत, धार्मिक तथा सांस्कृतिक आदि आदि स्तरों पर भारतीय स्वत्व एक न रहा, वरन् अनेक रूप में विभक्त हो रहा था । इसके कारण न केवल भारतीय अस्मिता ही संकट में पड़ गई, बल्कि इससे आगे

1॰ प्रेमधन सर्वस्व, पृ0 249

भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में भी यह साम्प्रदायिक भावना सबसे बड़ी रूकावट बन रही थी । देश के अंदर इस साम्प्रदायिक स्थिति में भारतेन्दु की पुकार थी जो नवजागरण कालीन हिन्दी साहित्य में राष्ट्रवाद का चरम रूप मानी जाती है -" जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू । हिन्दू की सहायता करो । बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो ।"[1] अर्थात् भौगोलिक स्तर पर भारत की एकता- यही भारत के इतिहास में आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीयता का पहला रूप मानी जाती है ।

किसी भी समाज में सांस्कृतिक, प्रजातिजन्य, धार्मिक, भाषागत आदि विभिन्नताएं होती हैं । राष्ट्रीयता के विकास में उन विभिन्नताओं के बीच एकता की एक सामान्य तत्व खोजना स्वाभाविक होता है । इसके आधार पर विभिन्नताजन्य विविधता को एक सूत्रता में बाँधकर रखा जा सकता है या कम से कम ऐसी आशा की जाती है । इसलिए किसी राष्ट्र की एकात्मकता की भावना कैसे पैदा की जाय और यह कैसे दृढ़ तथा स्थायी बनाया जाय, ये प्रश्न राष्ट्र-वादियों के सामने आते रहते हैं । इन प्रश्नों के उत्तर के लिए सामान्यत: राष्ट्रीय एकता को निर्धारित करने वाले मुख्य तीन तत्व माने जाते हैं; भूमि- जिस से भौगोलिक एकता, जन- जिस से जनगण की राजनीतिक एकता तथा संस्कृति - जिस से जन-संस्कृति अर्थात् सांस्कृतिक एकता उत्पन्न होती है । इन तीनों के समुच्चय का नाम ही राष्ट्र है ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1013

भारतीय राष्ट्रीयता के विकास क्रम में भारतेन्दु के भाषण में भारत भूमि पर आधारित उनकी राष्ट्रीयता को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद है । उनके भाषण में अभिव्यक्त " हिन्दू" शब्द के संकीर्ण अर्थ को लेकर भारतेन्दु की राष्ट्रीयता में जातीय एकता, धार्मिक या सांस्कृतिक एकता आदि का अभाव होने की बात कभी-कभी कही जाती है । कुछ विचारकों - मुख्यत: मुसलमान विचारकों के मतानुसार भारतेन्दु ने भारत-भूमि पर रहने वाले भारत निवासियों को "हिन्दू" के रूप में अर्थात् वैष्णव दृष्टि के सामान्जस्य में देखा है । इसलिए नवजागरण काल में अपनी स्वत्व रक्षा की भावना से उत्पन्न भारतीय अतीत गौरव में भारत के जिस अतीत काल का गान किया था, वह हिन्दू काल की स्वर्ण युग था । उनकी अवस्था के प्रतीक हिन्दू इतिहास तथा परंपरा के वीर पुरूषों तथा नारी थे । हिन्दी-साहित्य-प्रेरणा हिन्दू थे, अन्य धर्मों तथा जातियों के लोग नहीं । इसके कारण राष्ट्रवाद के इस अभ्युत्थान काल में उनकी राष्ट्रीय भावना जातीयता या धार्मिकता से मुक्त नहीं हो पायी थी ।

लेकिन वास्तविकता यह थी कि भारतेन्दु के समय तक भारत में "राष्ट्र" की आधुनिक तथा राजनीतिक धारणा की स्थापना नहीं होने से भारतेन्दु के स्वर में "हिन्दू" शब्द " राष्ट्र" के अर्थ में प्रयोग किया गया । यद्यपि भारतेन्दु की राष्ट्रीयता में तब तक देश की जनता से आधारित जनगण की राजनीतिक एकता जैसी चेतना न हो पायी थी, फिर भी उनके कथन में "हिन्दू" शब्द का मतलब धार्मिक तथा जातीय सीमा से मुक्त होकर व्यापक अर्थ में भारत-भूमि पर रहने वाले होते हैं । भारतेन्दु ने तत्कालीन हिन्दू बुद्धिजीवियों के बीच हिन्दूवाद के

आधारित भारतीय राष्ट्रीयता को संकीर्ण या साम्प्रदायिक भावना से मुक्त कर अन्य जाति और अन्य धर्म के लोग भी शामिल करने वाले व्यापक अर्थ में "हिन्दू" अर्थात भारतनिवासी का आग्रह किया था । इसलिए नवजागरण कालीन भारतीय राष्ट्रीयता में विदेशी शासन से निजात पाकर अपने राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा करने के लिए मातृ-भूमि का प्रतीक देश के भाव स्तरों में उतरा है । इसके फलस्वरूप भारतेन्दु की राष्ट्रीयता ने केवल जातीय अथवा धार्मिक आधार पर नहीं, बल्कि भौगोलिक स्तर पर सांस्कृतिक, आर्थिक और वैचारिक आधार से खड़ी हुई भारत की राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने का प्रयत्न था ।

इस तरह भारतेन्दु की भारतीय भौगोलिक स्तर पर आधारित राष्ट्रीय एकता पर महत्व देते हुए अधिकांश विद्वान तो भौगोलिक एकता को राष्ट्रीय भावना की जागृति का कारण-विशेष मानते हैं । जैसे- " एक सम्मिलित राजनीतिक ध्येय में बँधे हुए, किसी विशिष्ट भौगोलिक इकाई के जन समुदाय के पारस्परिक सहयोग और उन्नति की अभिलाषा से प्रेरित उस भू-भाग के लिए प्रेम और गर्व की भावना को राष्ट्रीयता कहते हैं ।"[1]

इस बात से हमें संदेश दिया जाता है कि राष्ट्रीयता के स्वरूप में केवल भौगोलिक आधार ही नहीं, बल्कि इसके साथ देशवासियों की मानसिकता और राजनीतिक एकता आदि भी राष्ट्रीयता के आधार सम्पृक्त रहते हैं । इस बात को अधिक व्यापक तथा स्पष्ट रूप में जान स्टुअर्ट मिल ने भौगोलिक एकता

---

1. शुभ लक्ष्मी -" आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय चेतना", पृ0. 12

के अतिरिक्त पूर्वकालिक इतिहास - पुरुषों के विचारों की ऐकता, जाति तथा धर्मगत एकता, समष्टिगत चेतना, राजनीतिक लक्ष्यों की एकता आदि को भी राष्ट्रीयता के निर्माण सहयोगी तत्व माना है।[1] अर्थात् उन्होंने भौगोलिक परिधि को राष्ट्र - प्रेम का एक सामान्य साधन- मात्र स्वीकार करते हुए यह माना है कि वस्तुत: विगत सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य, एक ही राष्ट्रीय इतिहास तथा अतीत की घटनाओं के प्रति-सम्मिलित सुख-दु:ख की भावना ही वे मुख्य कारण हैं, जिन से राष्ट्रीय भावना का विकास होता है। इन सब के समन्वित प्रभाव के रूप में राष्ट्र के प्रति एक सामुहिक गौरव और आन्तरिकता की भावना का विकास सहज हो जाता है।

जान स्टुअर्ट मिल की उपर्युक्त बात से भारतेन्दु के यहाँ भारत की भौगोलिक स्तर पर आधारित राष्ट्रीयता को फिर से देखें, तो यद्यपि भारतेन्दु के जमाने में भारत जैसे बहुजातीय, बहुभाषी, बहुधार्मिक तथा बहुसांस्कृतिक देश को न केवल "राष्ट्र" की अवधारणा की स्थापना नहीं मिली, बल्कि आधुनिक अर्थ में एक राष्ट्र का स्वरूप भी नहीं मिला था। इससे अधिक सारा देश इन अनेक स्तरों पर साम्प्रदायिक भावना से विभक्त भी हो रहा था। इसके कारण भारतेन्दु ने न केवल राष्ट्रीयता के स्वरूप-निर्माण में अतीत या परंपरा के प्रति अनुराग के साथ तत्कालीन समाज में चलती साम्प्रदायिक भावना को समाप्त करने वाली सांस्कृतिक एकता अर्थात "भारतीयता" की कामना प्रकट की, बल्कि

---

1. जान स्टुअर्ट मिल -" रेप्रिजेन्टेटिव गवर्मेन्ट ", पृ0 3

जातिगत, भाषागत तथा धार्मिक आदि स्तर पर भी निर्धारित राष्ट्रीय एकता को उभारने का प्रयत्न भी किया । तथा इन सबको एक जगह पर मिलाने का सबसे पहला बिन्दु भारतेन्दु के यहाँ भौगोलिक स्तर पर भारत-भूमि था ।

कुल मिलाकर नवजागरण के दौरान भारतेन्दु के यहाँ प्रकट राष्ट्रीयता की सीमा अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध क्षेत्र में शत्रु का विरोध करने वाले सैनिक तक ही सीमित नहीं, बल्कि अपने राष्ट्र के हितार्थ सांस्कृतिक, सामाजिक, जातीय एवं धर्मगत सहिष्णुता समन्वय की आदर्श कामना तथा संपूर्ण भारतीय जाति की उद्धारक मानवीय भावना की प्रमुखता भी उनकी राष्ट्रीयता के अंतर्गत आती है । अर्थात् राष्ट्रीय आन्दोलन अथवा स्वातंत्र्य संघर्ष ही राष्ट्रीयता नहीं, वरन् यह मानव-समाज के विकास का एक ऐतिहासिक चरण है ।

इस अध्याय के अंत में हमें एक बात सोचनी होगी कि नवजागरण काल में भारतेन्दु के यहाँ सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय अस्मिताबोध से विकसित राष्ट्रीयता आज के जमाने में किस रूप में और क्यों प्रासंगिक है तथा नवजागरण काल की तुलना में समकालीन राष्ट्रीयता की क्या समस्या विद्यमान है? इस संदर्भ में सबसे पहले हमें राष्ट्रीयता के अंदर "एकता" संबंधी एक बात देखनी होगी, जो समकालीन राष्ट्रीयता संबंधी समस्या भी होती है ।

सामान्यत: राष्ट्रीय एकता के अंदर निहित राष्ट्र और व्यक्ति के बीच संबंध तथा किसी राष्ट्र के साधारण व्यक्तियों की जिम्मेदारी पर इस तरह टिप्पणी दी जाती है -" राष्ट्रीयता एक आन्तरिक प्रवृत्ति है, एक ऐसी

चेतना है जिस के प्रस्थान-बिन्दु में वैयक्तिकता और विस्तार में विश्व विद्यमान है । व्यक्ति से ही राष्ट्र का स्वरूप निर्धारित होता है । जब व्यक्ति राष्ट्रहित के लिए अपने स्वार्थों और संकुचित सीमाओं का उत्सर्ग करता है, तभी सच्ची राष्ट्रीयता का जन्म होता है।.... राष्ट्रीयता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए,इस को धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए, इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए , प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार के त्याग और कष्ट स्वीकार करने चाहिए ।"[1]

पर राष्ट्रीयता के अंदर इस एकता की भावना से उत्पन्न विडम्बना भी दिखाई देती है, जो राष्ट्रीयता के विकास में कभी-कभी बाधा के रूप में विद्यमान होती है । एक ओर राष्ट्रीयता किस हद तक मनुष्य के उच्चतर उद्देश्यों के अनुकूल थी । लेकिन सीमा-व्यक्ति- क्रम करने के बाद इसका एक अत्यंत कुत्सित रूप सामने आता है । वह यह है कि अपने देश को धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए दूसरे देशों का शोषण किया जा सकता है । अपने देश के प्रसार संवारने के लिए दूसरे देश की झोपड़ियाँ जलायी जा सकती है । यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेशवाद इसका उदाहरण होगा । दूसरी ओर मनुष्य अपने राष्ट्र की सेवा के लिए राष्ट्रीय एकता की भावना के ऊपर अधिक संगठित होता है, जिस में सांस्कृतिक, जातिगत, धार्मिक तथा भाषागत आदि आदि स्तरों की एकता आधार होती है। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास क्रम में सांस्कृतिक नवजागरण के दौरान इस राष्ट्रीय एकता की भावना से राष्ट्रीय चेतना का

---

1. शुभ लक्ष्मी-" आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना", पृ0 ।।

उद्भव तथा विकास हुआ । पर इसके साथ इस एकता की आकांक्षा से देश का विभाजन भी हुआ है । यही भारतीय राष्ट्रीयता के विकास क्रम में सबसे विडम्बना की बात मानी जाती है ।

समकालीन भारतीय राष्ट्रीयता की स्थिति है; आजादी के बाद देश के अंदर विकसित यह राष्ट्रीयता का स्वरूप प्रौढ़ अथवा विकसित नहीं, बल्कि भाषागत, जातिगत, धार्मिक तथा सांस्कृतिक के अलावा अब तो राजनीतिक स्तरों पर भी टुकड़े-टुकड़े दिखाई देती है । ऐसा क्यों ! अब तो भारतेन्दु के यहाँ की तरफ अंग्रेजी जैसी बाह्य बाधाएं नहीं होती । देश को आजादी मिली, पर इसके साथ देश विभाजित हो गया । इसके परिणाम-स्वरूप देश-विभाजन के बाद भारतीय संस्कृति की विशेषता- अर्थात् जिन सांस्कृतिक,जातीय धार्मिक तथा भाषागत विभिन्नताओं में से एकता थी, वे आजकल अलग-अलग स्तरों पर खड़े होने लगीं । यानी भारतीय अस्मिता अनेक स्तरों पर टुकड़े-टुकड़े दिखाई देती है । भारतीय राष्ट्रीयता अब अंग्रेजी जैसे बाह्य दबावों से नहीं, बल्कि देश के अंदर लोगों की मानसिकता में उत्पन्न राष्ट्रीय एकता की विरोधाभास से अलग अलग स्तरों, आधारों तथा राजनीतिक स्वार्थी आकांक्षाओं पर संकीर्ण तथा विभक्त होने लगी है ।

समकालीन राष्ट्रीयता की इस स्थिति के बारे में पूरनचन्द्र जोशी की टिप्पणी है --" भारत के राष्ट्रीय विकास की कुछ ऐसी बुनियादी समस्याएं हैं जिन्हें सुलझाने के लिए राष्ट्रीय प्रयास होता तो दूर की बात है, जिन के

प्रति जागरूकता भी देश के विचारशील वर्ग में व्यापक रूप से नहीं आयी है।" इस का कारण वे बताते हैं कि " सब से कठिन परिवर्तन होते हैं मनुष्यों की वैचारिक पद्धति में, दृष्टिकोण में, विचार-दर्शन, मूल्यों, मान्यताओं और व्यवहार में । ..... परिवर्तनशील युग में सत्ता-संघर्ष, आर्थिक क्रांति और सांस्कृतिक जागरण - तीनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक के बिना शेष दो अपूर्ण है । बिना एक नए बौद्धिक और भावनात्मक उभर के, जो नए जीवन-व्यवहार के लिए एक नया सांस्कृतिक आधार, एक नया जीवन-दर्शन प्रदान करे, देश की सृजनात्मक शक्तियाँ पूर्णरूपेण नहीं उभर पायेंगी । यह नया जीवन-दर्शन एक ओर भारतीय परंपरा के नीर-क्षीर- विवेक का फल होगा और दूसरी ओर औद्योगिक युग की चुनौतियों से समस्त मानव-समाज के वैचारिक संघर्ष के परिणामों और अनुभवों के निष्कर्ष पर आधारित होगी ।" [1]

यद्यपि समकालीन स्थिति भारतेन्दु के जमाने से भिन्न है, फिर भी भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिए नवजागरण कालीन साहित्यकारों के सामने जो जागृत चेतना तथा चुनौतियाँ थीं- जैसे जातिगत, भाषागत,धार्मिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक आदि स्तरों पर, वे आज के जमाने में भी बड़े सशक्त रूप में प्रासंगिक होने का कारण है कि अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन से स्वातंत्रता पाने के बाद तथा आधुनिक चाल में औद्योगिक स्तर पर समाज-जीवन में विकास होने के बावजूद भी युगानुकूल लोगों की मानसिकता का प्रौढ़ रूप नहीं मिल रहा है।

---

1. पूरनचन्द्र जोशी - " परिवर्तन और विकास के अध्ययन", पृ0 28

इसलिए भारतेन्दु द्वारा प्रेरित भारतीय राष्ट्रीयता का जो प्रथम रूप था, उसको अधिक प्रौढ़ और विकसित करना समकालीन भारतीय राष्ट्रवादियों के मुख्य चुनौती तथा कार्य है । हिन्दी भाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक नवजागरण तथा इसके अंदर भारतीय अस्मिताबोध से विकसित राष्ट्रीयता का उद्भव अगर अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन द्वारा उत्पन्न आधुनिकीकरण की उपज मानी जाती है, तो समकालीन भारत में प्रचलित " नव राष्ट्रीयता" की भावना नवजागरण काल में उत्पन्न राष्ट्रीयता की उपज क्यों नहीं बन सकती ।

xxxxx

अध्याय - 3

"वैष्णवता और भारतवर्ष"

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में यद्यपि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जागृति दिखाई दे रही थी - अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आर्थिक तथा साहित्यिक आदि क्षेत्रों में नई परिस्थितियों के कारण भारत की सभ्यता एवं संस्कृति में परिवर्तन आरंभ हो गया था । फिर भी धर्म संबंधी अनेक वाद-विवाद अभी तक समाज में होते रहे हैं ।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज के अंदर धार्मिक स्थिति ऐसी थी कि धर्म के नाम पर अनेक पापाचार लोगों को दूषित कर रहे थे । शास्त्रानुकूल आचरण तथा पवित्र सच्चे धर्मकर्म की ओर जनता की रूचि का प्रायः ह्रास ही था । धार्मिक कट्टरता तथा संकीर्णता के कारण लोगों का सामाजिक जीवन भी विशृंखल हो रहा था । धर्म का कोई ऐसा अंकुश समाज पर नहीं था जो उसे नैतिक पतन से रोक सकता हो । अनेक सम्प्रदाय और मत प्रचलित हो जाने के कारण समाज की एकता खण्डित हो चुकी थी । धर्माडम्बर, अन्धविश्वास, पाखण्ड तथा अन्य कई धार्मिक कुरीतियों में सारी जाति ग्रस्त हो रही थी । जादू-टोने, भूत-प्रेतादि अभी भी लोगों के जीवन से विलुप्त नहीं हुए थे । इन सब के साथ ईसाई धर्म के प्रसार से हिन्दू धर्म की नींव को दीमक की भाँति भीतर ही भीतर खोखला जा रही थी ।

इस स्थिति में आधुनिक युग की नव चेतना से जागृत नये शिक्षित लोगों को महसूस करना था कि समाज के धार्मिक स्तर पर युगानुकूल परिवर्तन या सुधार होना चाहिए । यद्यपि धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के आरंभ

का कोई निश्चित तिथि ज्ञात करना मुश्किल कार्य हो । फिर भी इन आन्दोलनों का आरंभ सन् 1828 ई॰ में " ब्रह्म समाज" की स्थापना तथा उसके बाद "प्रार्थना समाज" (1867) और " आर्य समाज" (1867) आदि जैसे समाज-सुधारवादी संस्थाओं की स्थापना से माना जाता है । तब से इन सुधारवादी आन्दोलनों के प्रभाव से भारतवासियों की आँखें खुलने लगीं । तथा सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों के अलावा देश के अन्य सभी क्षेत्रों में भी सुधार की जागृत चेतना दिलाने में इन सुधारकों ने उल्लेखनीय योगदान किया ।

इस तरह आधुनिक युग के प्रारंभिक काल की धार्मिक परिस्थितियों के अवलोकन से यह स्पष्टत: दिखाई देता है कि समाज के अन्दर एक ओर यदि धार्मिक पतन हो रहा था, तो दूसरी ओर उसके संशोधन के लिए भी नाना प्रकार के प्रयत्न हो रहे थे । विशेषकर समाज में सांस्कृतिक नव चेतना की सहायता से धर्म को मानवता के ऊँचे आदर्श तक पहुँचाने के लिए मानवधर्म का प्रतिपादन किया जा रहा था ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सुधारवादी आन्दोलन के दौरान विशेषकर स्वामी दयानंद सरस्वती तथा उनके आर्य समाज ने समाजसुधार के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी क्रांति जैसे परिवर्तन लाने का प्रयास किया । सन् 1867 ई॰ में दयानंद ने बंबई में आर्य समाज की स्थापना की, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में भारत की नवीन सामाजिक चेतना का सब से बड़ा पुरस्कर्ता था ।

आर्य समाज मुख्यत: सनातन हिन्दू धर्म में सुधार के प्रयोजन को रखे हुए

ारवादी आन्दोलन था । दयानंद ने भारत के प्राचीनतम आर्य सभ्यता तथा दिक धर्म की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया तथा धार्मिक रूढ़ियों का रोध करते हुए उनको सुधारना चाहा । उनका धार्मिक सिद्धान्त मूलरूप से द एवं स्मृति-ग्रंथों पर आधारित था । वेद-शास्त्रों के प्रमाणों एवं तर्कों के रा उन्होंने तत्कालीन धर्म में प्रचलित अंध रूढ़ियों, श्राद्ध, तीर्थ, मूर्तिपूजा, देवी-देवताओं की उपासना, भूत प्रेम का भय, अवतारवाद की धारणा, भाग्य-द तथा अन्य बहुत से कर्मकाण्डों और विश्वासों को उखाड़ने का सबल प्रयत्न या । इसके साथ समाज के अंतर्गत बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, छुआछूत, का-चुल्हा, अनमेल विवाह, जन्मानुसार जाति-व्यवस्था, विदेशी सभ्यता एवं कृति के अंधानुकरण के विरुद्ध भी आवाज उठाई ।

इस तरह नवजागरण युग में भारत की जागृति बहुत कुछ अर्थों में र्य समाज की थी जिस में प्राचीन संस्कृति के प्रति आस्था और विश्वास के थ पुरातन धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों के प्रति प्रतिक्रिया एवं अनास्था भाव भी विद्यमान था । इस आर्य समाज ने बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तर प्रदेश, गुजरात और पंजाब आदि अनेक प्रदेशों में व्यापक रूप में भारतीयों सर्वाधिक प्रभावित किया । विशेषकर उत्तर प्रदेश के आचार-विचार, रहन-न, साहित्य, संस्कृति तथा राजनीति आदि पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा ।

इस वातावरण में यह स्वाभाविक होगा कि यद्यपि भारतेन्दु हरीश्चंद्र समय नव शिक्षित युवक होते हुए दयानंद से टकराते थे, फिर भी आर्य समाज

का प्रभाव जाने-अनजाने उन पर पड़ा । भारतेन्दु की नव जागृत चेतना के बहुत अंश दयानंद की विचारधारा तथा कार्य से प्रेरित थे । इस लिए भारतेन्दु का - विशेषकर उनकी धार्मिक विचारधारा का अध्ययन करने के लिए हमें पहले आर्य समाज तथा उसके संस्थापक दयानंद सरस्वती पर विचार करना उचित होगा। ताकि हिन्दी नवजागरण के दौरान दयानंद के योगदान तथा सीमाएं और भारतेन्दु की धार्मिक चेतना की मौलिकता तथा इससे आगे उनके "वैष्णवता और भारतवर्ष " में मौजूद अस्मिताबोध से उत्पन्न " भारतीय राष्ट्रीयता" का सच्चा स्वरूप मिल जाय ।

आर्य समाज की युगानुकूल चेतना को देखने के लिए दयानंद तथा आर्य समाज की विचारधारा और कार्य पर जरा विस्तार से नजर करें । तो सबसे पहले आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती संस्कृत के चोटी के विद्वान, वाग्मी और अत्यन्त मेधावी थे । उनके सिद्धान्त का आधार वेद है । वे वेदों को शाश्वत और अपौरूषेय मानते थे । उनकेविचार में वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वभौम है । दूसरे धर्म अधूरे हैं । इसलिए समाज का कर्तव्य है कि अन्य धर्मावलम्बियों को वेदों पर आधारित आर्य धर्म में दीक्षित करें । उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "सत्यार्थ प्रकाश" द्वारा तत्कालीन प्रचलित धर्मों की विस्तृत व्याख्या एवं टीका करके सत्य धर्म का विवेकपूर्ण स्वरूप जनता के सामने रखने का प्रयास किया । उन्होंने इस ग्रंथ के माध्यम से भारतीयों में प्रचलित विभिन्न वादों, पंथों और कुप्रथाओं का खण्डन करते हुए अपने आन्दोलन में आत्म-सुधार पर विशेष बल दिया था । इससे एक ओर धार्मिक अंधविश्वासों का गढ़ टूटा । दूसरी ओर आर्य समाज ने ईसाई,

मुसलमान आदि विजातीय धर्मों की ओर से भारत की रक्षा करने और भारतीयों को सनातन आर्य धर्म के प्रति गौरव की भावना दिलाने का प्रयास किया ।

स्वामी दयानंद के धार्मिक सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर एक ही है, अनेक नहीं । ब्रह्म, विष्णु, रूद्र, इन्द्र, वरुण आदि ईश्वर की ही भिन्न-भिन्न शक्तियों अथवा गुणों के परिचायक हैं । तथा उनके धार्मिक सिद्धान्त के अंदर ईश्वर निराकार है, शरीर धारण नहीं करता ।[1] अत: उसकी प्रतिमा बन ही नहीं सकती । इस तरह वेदों के आधार पर ईश्वर के निराकार स्वरूप को मानने के कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य में राम और कृष्ण को अवतार न मानकर महापुरूष मानने की भावना दयानंद की देन है । उनके अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान है । इसलिए रावण जैसे दुष्टों के संहार के लिए उसे जन्म या अवतार ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । अर्थात् वे राम और कृष्ण को मानव के रूप में मानते थे, परमात्मा के रूप में नहीं ।

ईश्वर संबंधी अपने इस विचार के कारण दयानंद मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी थे । धर्म की समस्त रूढ़ियों तथा समाज की अगति का कारण उनकी दृष्टि में मूर्ति पूजा ही था । उनके विचार में मूर्ति पूजा मिथ्याज्ञान पर आश्रित है। इसलिए अनेक देवी-देवता और उनकी मूर्तियाँ देश में धार्मिक मतभेद एवं अनैक्य को बढ़ावा दे रही थी । दयानंद ने इस मूर्ति पूजा का खुलकर खण्डन करते हुए उन सभी मतों एवं धर्मों की तीव्र आलोचना की जो ईश्वर को अवतार या साकार मानकर मंदिरों में अनेक देवी-देवताओं और मूर्तियों की स्थापना

---

1. "दयानंद ग्रन्थमाला" में संकलित " सत्यार्थ प्रकाश ", पृ0 169

करते थे । उन्होंने कहा- " ईश्वर व्यापक, अनादि, अजन्मा तथा सर्वेश्वर होने के कारण व्यापक है तब मूर्ति पूजा अज्ञानता के अतिरिक्त क्या है ?[1]

अत: दयानंद के अनुसार ईश्वर वह है कि " जिस के ब्रह्म परमात्मिक नाम है, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है जिस के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र है, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से बलदाता आदि लक्षणयुक्त है ।"[2] ईश्वर के प्रति दयानंद की इस मान्यता से आर्य समाज ने अपने सनातन धर्म की पुनर्स्थापना करने का प्रयत्न किया । इस प्रयास से समाज के लोगों के अंदर वैराग्य, जपतप, योग, कण्ठी, माला, मठ, मंदिर, तिलक, पूजा, अर्चना आदि के प्रति लोगों की धारणाएं बदलने लगीं । तथा हिन्दू धर्म में पली अस्पृश्यता, छुआछूत जैसी कुरीतियों का त्याग करके प्राचीन गौरवशाली भारतीय संस्कृति की पुन: प्रतिष्ठा करना ही आर्य समाज का लक्ष्य बना । अर्थात् हिन्दू समाज में समय के कारण आई खराबियों को काटकर अलग करना और भारत के सनातन धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना ही आर्य समाज का उद्देश्य था ।

दयानंद की दृष्टि में जातिवाद ने समाज में विष का संचार किया, देश को विभक्त किया तथा पराधीन बनाया । और समाज में छूतछात, ऊँचनीच, अयोग्यों का सम्मान एवं योग्यों को दूर-दूर भटकने वाले आदि जैसी विषमता

1. "दयानंद ग्रन्थमाला" में संकलित " सत्यार्थ प्रकाश ", पृ0 29।
2. "सत्यार्थ प्रकाश" पृ0 560

पैदा की है । वर्ग-विषमता, आर्थिक शोषण आदि भी इसी की देन है,जबकि वर्ण व्यवस्था समाज को वैज्ञानिक एवं बुद्धिसम्मत आधार पर सुवर्गीकृत करने की उत्तम योजना है । अर्थात् दयानंद के अनुसार जातिवाद ने वैदिक धर्म को अपमानित एवं खण्ड-खण्ड किया है ।

दयानंद जातिवाद नहीं, वरन् एक मानव जाति को मानते थे तथा वेद के अनुसार कार्य के आधार पर उसको चार वर्णों में विभक्त करते थे । फिर भी उन्होंने वर्ण व्यवस्था को जन्म से स्वीकार न कर गुणकर्म के आधार पर माना है । अपने ग्रंथों में उन्होंने स्पष्टत: कहा कि - " वर्णाश्रम गुणकर्मों की योग्यता से मानता हूँ ।"[1] तथा " ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं । इन का नाम वर्ण इसलिए है कि जिस के जैसे गुणकर्म हो, वैसे ही उनको अधिकार देना चाहिए ।"[2]

दयानंद ने गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था के लाभों का उल्लेख करते हुए लिखा - " जिस का जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुणकर्म स्वभाव हों तो अतिविशेष है ।"[3] उनका विश्वास है कि इस प्रकार के वर्ण व्यवस्था होने से सब वर्ण अपने-अपने गुणकर्म स्वभाव युक्त होकर शुद्धता के साथ रह सके हैं । यानी ब्राह्मण कुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं । अर्थात् वर्ण संकरता प्राप्त न होगी । इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी नहीं होगी ।"[4] तथा इस प्रकार

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 923
2. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका- वर्णाश्रम विषय, पृ0 268
3. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 130
4. संस्कार विधि- गृहाश्रम प्रकरण, पृ0 253

वर्ण व्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बन रहते हैं । और उत्तम वर्ण इस भय से उत्तम बनने में प्रयत्न करते हैं कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊँ । इसलिए बुरे कर्म छोड़कर उत्तम कर्मों को ही किया करते हैं । इससे संसार की बड़ी उन्नति है ।[1] इन कथनों द्वारा दयानंद का चाहना था कि इन गुण कर्मों के योग से ही चारों वर्ण हो तो मनुष्य समुदाय और संसार की बड़ी उन्नति हो सकेगी ।

गुणकर्मों के अनुसार वर्ण व्यवस्था को मानते हुए शूद्र के बारे में भी दयानंद का विचार इस तरह था - " जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ, और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच माने तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा ? क्या दूध देने वाली वा न देने वाली गाय गोपालों को पालनीय होती है, वैसे कुम्हार आदि को गधही पालनीय नहीं होती? और यह दृष्टान्त भी विषय है, क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्य जाति, गाय और गधही भिन्न जाति । कथञ्चित पशु जाति से दृष्टान्त का एक देश दार्ष्टान्त में मिल भी जावें तो भी इस का आशय अयुक्त होने से वे श्लोक विद्वानों के मानवीय कभी नहीं हो सकते ।"[2] अर्थात दयानंद ने शूद्र को नीच अथवा अछूत मानने वाली हिन्दू धर्म की विषमता का खण्डन करते हुए समाज में उसकी योग्यता मानी है । उन्होंने सेवा को ही शूद्र का मुख्य कर्तव्य मानते हुए गुणकर्मों के आधार पर ही उसका जन्म होना माना है ।तथा उनके अनुसार शूद्र विद्या रहित होने से विज्ञान संबंधी कार्य तो न कर सकेगा किन्तु शरीर के सब काम कर सकता है।

1. संस्कार विधि - विवाह प्रकरण, पृ0 152
2. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 112, 113

इस विवेचन से दयानंद का चाहना स्पष्ट है कि चारों वर्णों के लोग अपने -अपने कर्तव्य कर्मों को करते हुए परस्पर प्रेम से रहते हैं । न किसी में ऊँचनीच की भावना आती है और न छुआछूत की । अब भाइयों की भाँति मिलकर रहते हैं तथा समाज रूपी कुटुम्ब की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं । ब्राह्मण शिक्षक बनकर अज्ञान को मिटाता है, क्षत्रीय रक्षक बनकर अन्याय को, वैश्य पोषक बनकर अभाव को तथा शूद्र सेवक बनकर असहयोग को मिटाता है। यही वैदिक वर्ण व्यवस्था है तथा इसको दयानंद ने अपने वेद भाष्य आदि ग्रंथों में उल्लेख किया है । इस तरह दयानंद के सामाजिक सिद्धान्त में व्यक्ति और समाज के कर्तव्य एवं उनके पारस्परिक श्रेयस्कर संबंध पर प्रकाश डाला गया है । व्यक्ति एवं समाज के निवार्य तथा परस्पर पूरक घटकों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था ही अमोध उपाय है । यह सार्वकालिक तथा सार्वभौम व्यवस्था है ।

दयानंद के समय में जातिवाद के साथ अन्य सामाजिक समस्या विवाह संबंधी थी, जो विशेषकर समाज में नारियों की दुर्दशा का कारण बन रही थी। तत्कालीन हिन्दू धर्म के अंदर उन कुरीतियों को सुधारने की आकांक्षा से वेदों के आधार पर विवाह के बारे में दयानंद का विचार था कि सन्तानोत्पत्ति, वर्णनिर्धारण, राष्ट्र-निर्माण और समाज-निर्माण का मूलाधार विवाह है । पूर्ण ब्रह्मचार्य द्वारा अर्जित शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों से सम्पन्न समान वर्ण के युवक एवं युवती का परस्पर सहमति तथा माता-पिता के निर्देशन में सूत्रबद्ध होना ही विवाह है । इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे विवाह से बाल-विवाह,

अनमेल विवाह, कन्याविक्रय-दहेज द्वारा सौदेबाजी, रूपाकर्षण पर आधारित शुद्ध प्रेम-विवाह आदि जैसी समाज घातक अवैदिक प्रथाओं की तो जड़ ही कट जाती है। पति-पत्नी का प्रसन्न भाव से व्यवहार करना स्वस्थ तथा उन्नत गृहस्थ को एवं सरुचि सम्पन्न सन्तान को जन्म देता है। पति-पत्नी की प्रसन्नता ही कौटुम्बिक एवं सामाजिक प्रसन्नता तथा समृद्धि का मूल है। विधवा या विधुर का विवाह एवं पुनर्विवाह आपद्धर्म तुल्य है।[1]

दयानंद ने इस तरह वेदों के आधार पर सामाजिक और नैतिक मूल्यों को देखते हुए एक आचार संहिता भी बनाई। इस में जाति भेद, मनुष्य-मनुष्य या स्त्री-पुरुष में असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने अपने ग्रंथ "सत्यार्थ प्रकाश" में सत्य की महत्ता प्रतिपादित करके आर्य समाज का कार्य-क्षेत्र विशेषकर उत्तर भारत में अधिक रखा और प्रस्तुत संस्थाओं की ओर से वहाँ पर स्कूलों, विश्वविद्यालयों तथा अनाथालयों की स्थापना की, जिन में समाज के दलित एवं अस्पृश्य के लिए भी प्रवेश खुला था। खासकर आर्य समाज ने सार्वजनिक सेवाओं के लिए आश्रमों की स्थापना करके बाल विधवाओं के लिए विधवाश्रम एवं अनार्थों के लिए अनाथाश्रम आदि खोलकर परिवारों का उद्धार किया। इसके साथ जाति-पाँति के दम्भोद्भूत बन्धनों से खिन्न लोगों को छुटकारा दिलाने तथा उन्हें समाज में प्रतिष्ठित स्थान दिलाने में भी आर्य समाज का योग है। आर्य समाज का यह कार्य निश्चय ही एक लोकतांत्रिक दृष्टि थी तथा विशेषकर

---

1. सत्यार्थ प्रकाश - विवाह के लक्षण, पृ0 84

समाज में पीड़ित दलित वर्गों के प्रति उनकी चेतना और प्रयास अत्यंत सामाजिक सिद्ध हुए हैं । ऐसे करके आर्य समाज उन अस्पृश्यों और दलित वर्ग के लोगों को हिन्दू धर्म का महत्व दिखा सका तथा हिन्दू धर्म में रहने के लिए प्रवृत्त भी कर सका । क्योंकि उस समय खासकर उत्तर प्रदेश में अस्पृश्य और दलित वर्ग हिन्दू धर्म को त्याज्य मानकर ईसाई धर्म तथा इस्लाम की ओर आकृष्ट हो रहे थे ।

दयानंद के अनुसार " शिक्षा का मूल उद्देश्य है आन्तरिक शक्तियों का विकास और अन्तर्मम के साहचर्य से उसके दिव्य प्रकाश के पावन आलोक में मानव का नवोत्थान एवं दैवीकरण ।"[1] अर्थात उन के विचार में शिक्षा मानव जीवन को संस्कारित कर अधिकाधिक उपयोगी तथा निपुण बनाने का नाम था। उन्होंने "सत्यार्थ प्रकाश" के शिक्षा प्रकरण वाले द्वितीय समुल्लास में शिक्षा प्रणाली उपयोगिता, प्रक्रिया आदि के बारे में बताते हुए शिक्षा की महत्ता पर बल दिया। मानव-जाति के शिक्षा का समर्थक होने के कारण दयानंद शूद्र तथा स्त्री का शिक्षा प्रणाली भी मानते थे । इसलिए शूद्र और स्त्री जैसे समाज के दलित वर्गों के उत्थान में सराहनीय प्रयत्न करते हुए उन्होंने "सत्यार्थ प्रकाश" के तृतीय समुल्लास में शूद्रों और स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल देकर " स्त्री शूद्रो नाधीयतामिति श्रुत:" का खण्डन किया है । उनका कहना है कि " सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है।"[2] तथा वे वैदिक धर्म के व्याख्यात होने के बावजूद भी पाश्चात्य शिक्षा के भी विरोधी न थे । समाज की भौतिक उन्नति के लिए वे पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक समझते थे ।

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 28
2 वही, पृ0 68

अभी तक हमने आर्य समाज के जो मुख्य विचारधारा, सिद्धान्त तथा कार्य देखा है, उनके आधार पर उन दिनों इसकी भारतीय समाज में लोकप्रियता के कारणों को देखें, तो सर्व प्रथम यह कारण प्रतीत होता है कि आर्य समाज ने अतीत के सांस्कृतिक गौरव का मनोहर चित्र प्रस्तुत किया। इससे वह अंग्रेजी उपनिवेशवादी ढाँचे के अंतर्गत पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति से खिन्न लोगों के आकर्षण का केन्द्र बन सका। आर्य समाज के प्रवर्तक दयानंद वेदों के प्रकांड पण्डित थे। यद्यपि वे अंग्रेजी पढ़े हुए नहीं थे, फिर भी उन्होंने वेदों के आधार पर देश की सामाजिक व्यवस्थाओं, धार्मिक आस्थाओं, राजनीतिक शिक्षा संबंधी आदर्शों की ऐसी नवीन बुद्धि सम्मत् तर्क संगत व्याख्या की थी जिस में पश्चिमी बुद्धिवाद, भौतिकवादी दर्शन और मानवतावादी धारणा सब का स्वरूप एक साथ समाहित हो गया था।

दूसरा कारण यह होता है कि अन्य आन्दोलन जब अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित रहे तब आर्य समाज अपनी भाषा नीति के बल पर जन साधारण के बीच प्रचलित हुआ। यानी उस समय ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज जैसे अन्य सुधारवादी संस्थाओं के आन्दोलन समाज के उच्च और उच्च-मध्य वर्ग तक ही सीमित रहे। पर आर्य समाज का प्रसार मुख्यत: मध्य-निम्न वर्ग के बीच हुआ। विशेषकर समाज में पीड़ित दलित वर्गों के लोगों के साथ उसका संबंध उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ छुआछूत पर जितना प्रबल आघात इसने किया उतना और किसी ने नहीं। इसलिए इसका कार्य अधिक क्रांतिकारी सिद्ध हो सका। इसके साथ समाज की परंपरा, रहन-सहन, आचार-विचार से उसका संबंध

जुड़ा होने के कारण उसकी समाज में जन साधारण के बीच लोकप्रियता अधिक बढ़ती गई थी ।

तीसरा कारण यही है कि उस समय राजा राममोहन राय जैसे सुधारक जहाँ एक ओर अंग्रेजी शिक्षा को अपनाने पर बल देकर राष्ट्र-कल्याण सोच रहे थे, वहाँ दूसरी ओर अपनी संस्कृति की विशालता तथा श्रेष्ठता घोषित कर देश में प्राचीनता के आदर्श द्वारा नवचेतना निर्माण करने की आदर्श कल्पना स्वामी दयानंद कर रहे थे । यानी भारत की सनातन श्रेष्ठ संस्कृति तथा परंपरा के आधार पर सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों के अलावा राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक स्तरों पर भी सुधार लाने से देश-उन्नति की परिकल्पना ने आर्य समाज को युग की सब से प्रभावशाली संस्था बना दिया ।

चौथा कारण है कि दयानंद ने जनता के सामने स्वराज्य की धारणा और भारतीयों को आर्यावर्ती तथा आर्य कहकर एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया । अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के विरुद्ध अपने सनातन पर आधारित राष्ट्रीय संगठन का आग्रह उनके स्वर में सुनाई देती थी । अर्थात् बाह्य शक्तियों के दबावों में पड़ी अपनी स्वत्व-रक्षा की भावना से उत्पन्न उसकी राष्ट्रीय चेतना ने तत्कालीन भारतीयों को व्यापक रूप में आकर्षित किया था ।

इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक आर्य समाज का प्रभाव धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक आदि स्तरों पर व्यापक रूप में पड़ा था । इस प्रभावशाली आर्य समाज

की चेतना के बहुत अंश नवजागरण की विचारधारा में भी प्रभाव डाल कर मिल जाते हैं । जैसे भारतेन्दु युगीन साहित्य पर आर्य समाज के सुधारवादी आन्दोलन का जो प्रभाव पड़ा उससे साहित्य की रीति कालीन श्रृंगारिक परंपरा के स्थान पर सुधारवाद- अर्थात् आधुनिक विषय ने जन्म लिया ।

लेकिन आर्य समाज के इस प्रभाव के बावजूद भी हिन्दी नवजागरण के प्रवर्तक भारतेन्दु आर्य समाज के संस्थापक दयानंद से टकराते हुए दिखाई देता है । दयानंद तो उस समय परम शास्त्रज्ञ तथा पंडित थे । परन्तु उनके सुधारवाद तथा तर्कवाद की प्रशंसा करते हुए और उनके पाण्डित्व पर श्रद्धा रखते हुए भी भारतेन्दु दयानंद की अनेक मान्यताओं के विरोध भी खुलकर सामने आये । आगे हमें देखना होगा कि धर्म के प्रति भारतेन्दु तथा दयानंद के विचारों में भिन्नता क्या थी । ताकि नवजागरण युग में दयानंद की धार्मिक चेतना की सीमाओं और इससे तत्कालीन भारतीय समाज में आर्य समाज का नकारात्मक प्रभाव दिखाई जाय । तथा दयानंद की तुलना में नवजागरण आन्दोलन के दौरान भारतेन्दु की धार्मिक चेतना की सार्थकता - अर्थात् उनकी वैष्णवता से विकसित भारतीय अस्मिताबोध अधिक स्पष्ट हो जाय ।

अपने समय के विचारकों के बारे में " स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन " में भारतेन्दु ने लिखा --" स्वर्ग में भी "कंसरवेटिव" और "लिबरल" दो दल हैं । जो पुराने जमाने के ऋषिमुनि यज्ञ करके या तपस्या करके अपने- अपने शरीर को सुखाकर और पचपचकर मरके स्वर्ग गये हैं उनके आत्मा का दल "कंसरवेटिव"है,

और जो अपनी आत्मा ही की उन्नति से या और किसी अन्य सार्वजनिक उच्च भाव संपादन करने से या परमेश्वर की भक्ति से स्वर्ग गये हैं वे "लिबरल" दल भक्त हैं । वैष्णव दोनों दल के क्या दोनों से खारिज थे, क्योंकि इनके स्थापकगण तो लिबरल दल के थे किन्तु अब ये लोग " रेडिकल्स " क्या महा-महा रेडिकल्स हो गए हैं ।....." कंसरवेटिव पार्टी में देवताओं के अतिरिक्त बहुत लोग थे जिन में ज्ञानवल्क्य प्रभृत्ति कुछ तो पुराने ऋषि थे और कुछ नारायण भट्ट, रघुनंदन भट्टाचार्य, मंडनमिश्र, प्रभृत्ति, स्मृति ग्रंथकार थे ।.....लिबरल दल में चैतन्य प्रभृत्ति आचार्य, दादू, नानक, कबीर प्रभृत्ति भक्त और ज्ञानी लोग थे ।.....लिबरल दल के भी दो गुट हैं -- एक केशवचन्द्र सेन का समर्थक तथा दूसरा स्वामी दयानंद का ।"[1] इस बात से मालूम होता है कि भारतेन्दु लिबरल है तथा एक स्वच्छन्द प्रेमपथिक वैष्णव है । तथा उन्होंने स्वामी दयानंद भी लिबरल दल के अंदर माना था । पर इन दोनों लिबरल विचारकों में अन्तर यह है कि भारतेन्दु के नजर में दयानंद तो लिबरल दल के अंदर रेडिकल्स हो गये ।

भारतेन्दु तो सच्चे वैरूणव थे और भक्ति मार्ग के अनन्य अनुगामी थे । कृष्णोपासक परम वैष्णव भारतेन्दु सांसारिक सुखों में लिपते हुए भी अधर्म से बहुत डरते थे । ईश्वरोपासना तथा धर्म उनके जीवन में बहुत महत्व रखते थे । वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी वैष्णव भक्त भारतेन्दु की रूचि बाल्यावस्था से धर्म की ओर विशेष थी । वही वैष्णव भक्त भारतेन्दु अपने समय की धार्मिक स्थिति

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 983

के प्रति चिन्तित थे और जागृत भी थे । वे "तदीय सर्वस्व" की भूमिका में कहते हैं --" मूल धर्म को छोड़ कर उपधर्मों में आग्रह ने भारतवर्ष से वास्तविक लोप कर दिया .... गौण कर्म तो मुख्य हो गए और मुख्य वस्तु गौण हो गई । इसी से सारा भारतवर्ष भगवत् विमुख होकर छिन्न-भिन्न हो गया जो कि इसकी अवनति का मूल कारण हुआ ।.... धर्म हमारा ऐसा निर्बल वा पतला हो गया कि वह केवल स्पर्श से वा एक चिल्लू पानी से भर जाता है । कच्चे गले-सड़े सूत वा चींटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है।.... या तो ईश्वरवादी हिन्दू समाज से सम्पूर्ण बहिष्कृत हो जाएँगे या कर्म मार्ग से ऐसे दब जाएँगे कि नाम मात्र के भक्त रहेंगे । "[1]

भारतेन्दु युग की इस धार्मिक स्थिति में नवीन जागृत चेतना और पुनर्जागरण के आन्दोलनों से भारतीयों को धार्मिक सुधार की आवश्यकता महसूस होने लगी । तथा इसके साथ ईसाई धर्म के प्रसार और भारतीय धर्मों-विशेषकर हिन्दू धर्म पर उसके आक्रमण से अपने धर्म-सुरक्षा की भावना भी महसूस करने लगी। परिणामत: सन् 1873 ई॰ में सनातन धर्म रक्षिणी सभा की स्थापना हुई । तथा भारतेन्दु ने भी इसी वर्ष " तदीय समाज" की स्थापना की थी, जिस का उद्देश्य ही धर्म तथा ईश्वर-प्रेम था । उन्होंने पाखंड विडंबन के माध्यम से धार्मिक अन्धविश्वासों और पाखंडों पर प्रहार करते हुए भक्ति तथा प्रेम के आधार पर धर्म के सच्चे स्वरूप का निर्माण करने की कोशिश की ।

1॰ भारतेन्दु समग्र, पृ0 877

इस तरह यद्यपि दयानंद तथा भारतेन्दु दोनों अपने समय की धार्मिक स्थिति को सुधारना चाहते थे, फिर भी दोनों की सुधारवादी चेतना में अन्तर आवश्य दिखाई देता है । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन की प्रक्रिया में यदि एक ओर दयानंद सरस्वती थे, तो दूसरी ओर भारतेन्दु हरिश्चंद्र । पहले भारतेन्दु को देखें, तो वे धार्मिक स्तर पर यद्यपि परिवर्तन तथा सुधार अवश्य चाहते थे, फिर भी वे धर्म में क्रांतिकारी परिवर्तन के विरुद्ध होकर उसे धर्म विप्लव समझते थे । वे न तो प्राचीन धर्म को लकीर के फकीर की भाँति अंधविश्वास से ग्रहण करते थे और न नवीन धर्मों के पूर्ण पोषक थे । वे सनातन धर्म की तत्कालीन विकृत रूप में नहीं, वरन् उचित परिवर्तनों या सुधार के हाथ ग्रहण करना चाहते थे । वे सनातन धर्म की प्राचीन प्रतिष्ठा को उसी स्तर पर रखना चाहते थे जिस पर वह कुछ दिन पहले थी । जैसे वे कहते हैं --" हमारा धर्म सर्वश्रेष्ठ है, यदि बाह्य तथा अन्दर दोनों सिद्ध हो ।"[1] अर्थात वे धर्म के सच्चा स्वरूप और उसकी आत्मा को ही जनता के सम्मुख रखना चाहते थे ।

नवजागरण काल में धार्मिक स्थिति को सुधारने के कार्य में दूसरी ओर दयानंद सरस्वती को देखें, तो आमतौर पर यह माना जाता है कि भारतेन्दु की तुलना में धर्म विषयक उत्तेजक कार्य क्रम स्वामी दयानंद के पास ही था । उनकी विचारधारा में धर्म के अभ्युदय और नि:श्रेयस दोनों के समान स्थान जरूर था ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 972

तथा उन्होंने धर्म को विश्वास मात्र की वस्तु न मानकर उसे तर्काधिष्ठित बना दिया । उनका यह मत था कि " यस्तर्केणानुसन्धत्ते स: धर्म वेत्ति नेतर ।"[1] इस तरह उस काल में तर्क निष्ठा दयानंदी मत का व्यवच्छेदक लक्षण हो गया था । इस के फलस्वरूप आर्य समाज बुद्धि और तर्क के आधार पर ही आर्य धर्म की प्रतिष्ठा का प्रयत्न कर रहा था । यही कारण है कि तर्क प्रधान विदेशी शिक्षा के फैलाव के साथ तत्कालीन परिवर्तनशील वातावरण में आर्य समाज ने बहुत हद तक जन-समूह को अपनी ओर आकर्षित किया और इसके कारण आर्य समाज के कार्य कभी-कभी क्रांतिकारी भी माने जाते हैं । मगर प्राचीन वैदिक धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर वेदों के तर्क या बुद्धि के आधार पर आधुनिक युग की धार्मिक स्थिति को सुधारने अथवा सच कहें, तो वैदिक धर्म की ओर फिर लौटने वाले प्रयत्न को क्रांतिकारी कार्य के रूप में मानना मुश्किल है । कहने का मतलब है कि दयानंद की धर्म संबंधी सुधारवादी चेतना अपने समय के अन्य सुधारकों की तरह सुधार मात्र ही थी, किन्तु वह जनता के सामने आयी थी क्रांति के वेग से ।

दयानंद की तुलना में भारतेन्दु के यहाँ धर्म सुधार की चेतना इसलिए अधिक प्रमाणिक मानी जाती है कि उनके लिए भगवत् प्रेम ही परम धर्म तथा सिद्धांत था । वे कहते हैं कि " बिना शुद्ध प्रेम के न लोक है न पर लोक । जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति वा कुटुम्ब से तुम्हारा संबंध है और जिस देश में तुम हो उसके सहज सरल प्रेम करो और अपने परम पिता, गुरू, परमपूज्य

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 48

परमात्मी प्रियतम को केवल प्रेम से ढूँढ लो, बस और कोई साधन नहीं है।"[1]

उपर्युक्त कथन से दिखाई देता है कि भारतेन्दु वैष्णव धर्म को विश्वास मूलक मानते हुए तर्कतर धर्म श्रद्धा और भगवत् प्रेम के पक्षपाती थे। तथा वे पौराणिक सिद्धांतों, कर्मकाण्ड आदि के महत्व को मानते हुए भी सिद्धान्तों को वैष्णव धर्म में प्राण रूप से नहीं रखना चाहते। " कार्तिक स्नान" में वे स्वयं लिखते हैं;

" शास्त्र एक गीता परम मंत्र एक हरि- नाम।
कर्म एक हरि-पद-भजन देव एक घनश्याम।।"[2]

तथा अन्य स्थान पर कर्मकाण्ड के प्रति भी अपना विचार प्रकट करते थे -"हम कर्म मार्ग को सर्वथा व्यर्थ समझते हैं। परन्तु जिस कुल व जाति में हम उत्पन्न हैं उसके लोगों को दुःख होगा इस ध्यान से हम यावत् कर्म करते हैं।"[3] भगवत् प्रेम के बारे में भी यद्यपि भारतेन्दु वैष्णव धर्म के कृष्ण उपासक थे, फिर भी वे मध्य युग के वैष्णव कवियों की तरह ही गोपी-प्रेम और राधाकृष्ण -प्रेम को वैश्विक स्तर पर ग्रहण करते हैं, स्थूल रीतिकालीन स्तर पर नहीं। वे वल्लभ सम्प्रदाय के विश्वदर्शनानुसार, आराध्य या श्रीकृष्ण के साथ व्यक्तिगत प्रेम संबंध स्थापित करते हैं। और अपने साहित्य में निजता के धरातल पर भगवान को अर्पित करते हैं। जैसे वे " उत्तर भक्त माल " में लिखते हैं।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 985
2. वही , पृ0 23
3. वही, पृ0 973

"भेंटि देव देवी सकल छाँड़ि कठिन कुल रीति ।
छाड्यो गृह में प्रेम जिन प्रगत कृष्ण पद प्रीति ।।"[1]

सामान्यत: अपने धार्मिक साहित्य में यदि एक ओर भारतेन्दु अपने लेखन को निजता के धरातल पर अपनी अनुराग भक्ति का माध्यम मानते हैं,तो दूसरी ओर, वही लेखन समाज-सुधार का भी जरिया है । ये दोनों आयाम या आश्रय एक साथ चलते हैं । अर्थात् भारतेन्दु अपनी वैष्णव आध्यात्मिक आस्थाओं के बावजूद भी यथार्थवादी रचनाकार थे । इसलिए रीतिकालीन कविता में जो वैष्णव विचारधारा, यथास्थितिवाद का पक्षधर होकर रह गयी थी, उसी पारंपरिक विचारधारा को भारतेन्दु ने प्रगति और जागरण की प्रेरणा का अस्त्र बना दिया ।

अपनी इस समाज-सुधारवादी चेतना के कारण भारतेन्दु ने नवजागरण कालीन भारत के समाज की दुर्दशा से दु:ख होते हुए इस दुर्दशा की बहुत सारी बातों को धर्म के अंतर्गत रख दिया है । उनके नजर में भारत की दुर्दशा में धर्म का बहुत बड़ा योग रहा है;

" महाराज ! धर्म ने सबसे पहिले सेवा की ।
रचि बहुविधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए ।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए ।।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 69

जाति अनेकन करी नीच अरू ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सों बरणि छुड़ायो ।।
करि कुलान के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो ।
विधवा-ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो ।।
रोकि बिलायत गमन कूप मंडूक बनायो ।
औरन को संसर्ग छुड़ाई प्रचार घटायो ।।"[1]

"स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन " में उपर्युक्त समस्याओं के सुधारों के लिए भारतेन्दु ने दयानंद और केशवचंद्र सेन की प्रशंसा की है । तथा बलिया के व्याख्यान में धार्मिक कुरीतियों के सुधार का आग्रह करते हुए भारतेन्दु ने कहा -" भाइयो, वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरण कमल का भजन है। वे सब तो समाज के धर्म है जो देशकाल के अनुसार सीधे और बदले जा सकते हैं ।"[2] यद्यपि विधवा-विवाह, जाति-पाँति, बाल-विवाह आदि को धर्म से बाँध दिया गया है पर वस्तुत: ये समाज के ही धर्म है । इसलिए इन धार्मिक कुरीतियों से समाज की दुर्दशा हो, तो उनको अवश्य सुधारना पड़ता है । इस तरह मध्यकालीन रूढ़िवाद तथा कर्मकाण्ड का दृढ़ विरोध करते हुए हिन्दू धर्म तथा समाज को धर्म के उन्नत तथा सार्वभौम आधारों पर प्रतिष्ठित करना भारतेन्दु की चिन्तन का प्रधान आयाम रहता है । वे कहते थे --" सब उन्नति का मूल धर्म है। इससे सबके पहले धर्म की ही उन्नति उचित है।"[3]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 462
2. वही, पृ0 1012
3. वही, पृ0 1012

इस तरह भारतेन्दु की धर्म संबंधी यह समाज-सुधारवादी विचारधारा निश्चय ही दयानंद से भिन्न थी । दयानंद समाज तथा धर्म की उन्नति को वेद में ही देखकर वैदिक धर्म के अनुसार समाज के लोगों को अपने कर्तव्य-वर्णाश्रम के आधारित कर्म करने से समाज का पालन तथा उसकी उन्नति हो जाने की बात करते थे । यानी दयानंद में सामाजिक-धार्मिक स्तर पर सुधारवादी चेतना इतिहास के विकास क्रम में भविष्य की ओर न जाकर तत्कालीन धार्मिक कुरीतियों तथा अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत पीड़ित भारतीय समाज और जन साधारण की उन्नति का उपज उन्होंने सनातन वैदिक धर्म में खोजा । इसलिए धर्म तथा समाज के प्रति अपनी विचारधारा में सुधारवाद जैसी जागृत चेतना के बावजूद भी विकासशील होने से अधिक आर्य समाज अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन के अंदर बाह्य संस्कृति के प्रति गैर प्रतिक्रिया के रूप में अपने सनातन के शरण में लौटने वाला जैसा दिखाई देता है ।

सामान्यत: बुद्धिजीवियों की दृष्टि से स्वामी दयानंद के धर्म संबंधी अतीतोन्मुख विचारधारा में सब से बड़ा दोष वेदों को स्वत: प्रमाण अपौरुषेय ग्रंथ मानना है । भारतेन्दु भी आर्य समाज के समाज तथा धर्म-सुधार आन्दोलन का महत्व स्वीकारते हुए भारतीय परंपरा तथा संस्कृति के प्रति आर्य समाज की उस संकीर्ण दृष्टि की आलोचना करते हैं, जो केवल वेदों पर ही आधारित हैं । वेदों पर ही आधारित दयानंद की धार्मिक चेतना की संकीर्णता के कारण अनेक दोष प्रकट हुए थे । उनमें से एक प्रतिमान यह है कि संहिताओं को प्रमाण मानते

हुए वेद से दयानंद का अभिप्राय केवल चार वेद और चारों वेदों के ब्राह्मण, छह अंग, छह उपांग, चार उपवेद और 1127 वेदों की शाखा से है।[1]

इस तरह दयानंद ने संस्कृत की सभी सामग्रियों को छोड़कर केवल वेदों को पकड़ा। और उन के सभी अनुयायी भी वेदों की दुहाई देने लगे। परिणाम इस का यह हुआ कि वेद और आर्य, भारत में ये दोनों सर्व प्रमुख हो उठे। देश में अन्य अनेक जातियों के समन्वय की ओर उनका ध्यान नहीं गया। तथा इससे आगे आर्य-आर्य कहने, वेद-वेद चिल्लाने तथा द्राविड़ भाषाओं में सन्निहित हिन्दुत्व के उपकरणों से अनभिज्ञ रहने के कारण आर्य समाजियों को बहस पर चिपके-- यह स्वस्थ धार्मिकता का एक लक्षण भी होता है -- रहने लगा है। इन बहसपूर्वक आर्य समाजियों ने वैदिक धर्म पर आक्रमण करने वालें को तर्कों द्वारा मुंह तोड़ जबाब देना शुरू किया। इस के साथ उन्होंने आर्य समाज के प्रसार की प्रक्रिया में वेदों को लेकर एक अन्धविश्वास जैसी चीज को भी जन्म दिया। दयानंद ने कहा कि वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं है, उस में विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न है। इस तरह वेदों को सभी ज्ञानों का कोष मान लेने से परवर्ती धर्म ग्रंथों में आई हुई विकृतियों को अमान्य कर दिया था। तथा केवल वेद को ही स्वत: प्रमाण मानने से लोगों के ज्ञानो-मेष में बाधा भी डाल दी थी।

कुल मिलाकर आर्य समाज मूलत: एक पुनरूत्थानवादी-सुधारवादी आन्दोलन

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 560,561

था । सनातन हिन्दू धर्म के कर्मकाण्डों तथा मान्यताओं के विरुद्ध वह एक बुद्धिजीवी रूख लेते हुए, सामने आया और उनका यह बुद्धिवाद तथा विवेकवाद नवजागरण की चेतना की संगति में था । पर नवजागरण की आकांक्षाओं के अनुरूप वह गुणात्मक रूप से विकसित न होकर एक प्रकार के हठवाद तथा एकांगी चिन्तन में निबद्ध होकर रह गया । उनका बुद्धिवाद भारतीय जीवन की मूलवर्ती प्रेरणाओं को इस हद तक नकार बैठा था कि वेदों की ओर वेद-विहित सत्य की अकाट्यता साबित करते हुए वह समूचे पौराणिक वाङ्मय तक को नकारने लगा । यह एक अतिवादी रवैया था और यही कारण है कि भारत के कुछ भाग में तो इसका प्रभाव जमा, पर शेष भारत उसे स्वीकार नहीं कर सका ।

आर्य समाज की वैदिक धर्म पर आधारित संकीर्ण विचारधारा से एक और विचारने योग्य बिन्दु है उसकी हिन्दू धर्म के संबंधित भारतीयता की संकल्पना । केवल आर्य समाज ही नहीं, बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी के नव-जागरण के दौरान व्यक्त राष्ट्रीय चेतना की संवेदना बहुत हद तक- लगभग पूर्ण रूप में धर्मपरक अस्मिता से जुड़ी हुई है । उपनिवेशवादी ढाँचे के अंदर समाज के सांस्कृतिक नवजागरण के आधारभूत अस्मिताबोध का प्रस्थान बिन्दु धर्म ही था । अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत बाह्य संस्कृति के आक्रमण से टकराते हुए अपनी वर्तमान सांस्कृतिक हीनता से भारतीयों की दृष्टि अतीत गौरव की काल्पनिक दम्भोक्तियों की ओर मोड़ जाती थी । इससे अपने सनातनों की श्रेष्ठता तथा इस श्रेष्ठता से प्रमाण अतीत के स्वर्ण युग में अपनी अस्मिता खोजने का

प्रयत्न होता है । और भारत जैसे धार्मिक देश में अगर अपनी सांस्कृतिक जड़ों की खोज तथा समस्याओं की पहचान करनी है, तो धार्मिक आत्म-चेतना के साथ ही किया जाना किस हद तक स्वाभाविक होता है । आर्य समाज के कार्य में तो अपने वर्तमान में बाह्याभिव्यक्त सांस्कृतिक हीनता से अतीत में मौजूद सनातन श्रेष्ठता से अस्मिता-भावना की खोज करने का प्रतिकार्य अवश्य मिलता है । वह वर्तमान दुर्दशा में पड़ी हुई अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए न केवल अतीत गौरव की भावना उठाते थे, बल्कि अपनी सनातन परंपरा पर चिपके हुए रहते थे । पर दयानंद ने अपने अतीत के अन्य श्रेष्ठ वस्तुओं को छोड़कर केवल वेदों के आधार पर ही जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हिन्दुत्व का एक खण्ड मात्र था, सम्पूर्ण मात्र नहीं ।

इस तरह दयानंद ने वैदिक धर्म के आधार पर ही भारतीयों के अंदर जिस स्वत्व-चेतना को जगाया, उसके परिणाम मुख्यत: दो तरफ दिखाई देते हैं । एक ओर यह बात निकली कि हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूलरूप की ओर आकृष्ट हुए एवं उन्हें अपनी प्राचीन परंपरा के लिए गौरव का अनुभव होने लगे । इससे यद्यपि उस समय आर्य समाज के अलावा ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज आदि के नेता अपने धर्म और समाज में सुधार तो ला रहे थे, पर दयानंद की दृष्टि में वह विदेशी की नकल है तथा अपनी हीनता और विदेशियों की श्रेष्ठता के ज्ञान से उनकी आत्मा कहीं-न-कहीं दबी हुई थी । " सत्यार्थ प्रकाश" के एकादय समुल्लास में दयानंद ने ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज की आलोचना करते हुए लिखा --" जो कुछ ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाजियों ने ईसाई मत में

मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाये और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्ति पूजा को हटाया, अन्य जालग्रंथों के फन्द से भी बचाये, इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं। खान-पान, विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा और पूर्वजों की बड़ाई करती तो दूर रही, इसके बदले पेट भर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भर पेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत, ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। वेदादियों की प्रतिष्ठा तो दूर थी, परन्तु निन्दा की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य लिये हैं। किसी ऋषि महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।"[1] अर्थात् अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत बाह्य संस्कृति से दबी हुई भारतीय अस्मिता की खोज तथा रक्षा के लिए तत्कालीन अन्य सुधारकों से भिन्न दयानंद ने जिस वैदिक धर्म पर आधारित अतीत को चुना है, उसका सांस्कृतिक नवजागरण के दौरान भारतीयों के मन में अतीत गौरव की भावना को जगाने वाला सकारात्मक प्रभाव पड़ सका था।

लेकिन दूसरी तरफ तो आर्य समाज की धर्म संबंधी अस्मिताबोध ने हिन्दू-जनता को यह भी दिखाया कि पौराणिकता के मामले में ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्व से अच्छे नहीं है। दयानंद आर्य धर्म की प्रशंसा और प्रसार

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 357,358

TH-5914

करते हुए ईसाइयत और इस्लाम की अत्यन्त कड़ी आलोचना करते थे ।"सत्यार्थ प्रकाश" के त्रयोदय समुल्लास में ईसाई मत की आलोचना है औरचतुर्दश समुल्लास में इस्लाम की । किन्तु ग्यारहवें और बारहवें समुल्लासों में तो केवल हिन्दुत्व के ही विभिन्न अंगों की बखिया उधेड़ी गयी है । यानी आर्य समाज ने वेदों के आधार पर भारतीयों-- सच कहें, तो हिन्दुओं के ही शुद्धि और संगठन का प्रचार किया । परिणाम-स्वरूप मुसलमानों की ओर से आर्य समाज की इस प्रक्रिया के प्रति भयानक विद्रोह होना बहुत हद तक स्वाभाविक था । नवजागरण कालीन भारतीय समाज के इस बातावरण के प्रति दिनकर की टिप्पणी थी -" लोग कहने लगे कि आर्य समाजी मुसलमानों से शत्रुता कर रहे हैं । इस से भारतीय एकता का शकट कुछ पीछे की ओर घुड़क गया ।..... ईसाइयत और इस्लाम के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने में जितनी मुसीबतें आर्य समाज ने झेली है, उतनी किसी और संस्था ने नहीं । .....सच पूछीये तो उत्तर भारत में हिन्दुओं को जगाकर उन्हें प्रगतिशील करने का सारा श्रेय आर्य समाज को ही है ।"[1] अर्थात आर्य समाज में अस्मिताबोध न केवल हिन्दुत्व तक ही सीमित रहा, बल्कि अन्य धर्मों पर आक्रमण भी करते हुए भारत की सम्मिलित स्वत्व को संकीर्ण या एकांगी बना रहा था । आर्य समाज के इस संकीर्ण अर्थ में भारतीय अस्मिताबोध पर पुरूषोत्तम अग्रवाल ने साफ शब्दों में कहा कि"आर्य समाज तत्कालीन अर्थ में उग्र समाज-सुधार का आन्दोलन था, लेकिन इसमें विन्यस्त सांस्कृतिक आत्मबोध गैर आलोचनात्मक परंपरा, प्रेम और संकीर्ण आक्रमकता पर आधारित था ।"[2]

---

1. रामधारी सिंह दिनकर-" संस्कृति के चार अध्याय", पृ0 560,561
2. पुरूषोत्तम अग्रवाल -" आलोचना" पत्रिका अंक 79, पृ0 134

सांस्कृतिक नवजागरण काल में आर्य समाज की हिन्दू धर्म पर ही आधारित इस संकीर्ण अर्थ स्वत्व-चेतना के प्रभाव से टकराते हुए भारतेन्दु ने अन्य धर्मों से भली वस्तुओं का सदा चयन करने वाली सारग्राहिणी प्रवृत्ति को अपनाने की कोशिश की । यद्यपि सद्य: प्रसूत ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज में उन्हें विश्वास न था और न जैन आदि में भी उन्हें पूर्ण आस्था थी । किन्तु इन सब मतों को वे कल्याणकारी समझते थे ;

" पूजिहौ देवी न देव कोउ किन वेद-पुरानह ढूँढ़ि पुकारौ ।
काहूसों काम कछु नहिं मोहिं सबै अपनी अपनी को सम्हारौ ।
हौं बनिहौं के नसाइहौं यासों यहै प्रन है "हरिचन्द" हमारौ ।
मानिहौं एक गुपालहि को नहिं और के बाप को धामे इजारौ ।"[1]

तथा " पूजि के कालिहि सत्रु ....."[2] वाले पदों से यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता है कि वे अन्य धर्मों के विरोधी थे । साथ ही उनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि वे अनेक पुराण कथा, शांडिल्य-सूत्र, नारद भक्ति सूत्र आदि तथा इतर धर्म संबंधी जैन कुट्टहल आदि ग्रंथों के भी अध्येता थे ।

धर्म तथा अन्य मतों के प्रति अपनी व्यापक दृष्टि के कारण भारतेन्दु हिन्दू सम्प्रदायों के प्रति ही सहिष्णु नहीं हुए, अपितु इस्लाम धर्म के प्रति भी उन्होंने प्रशंसोद्गार व्यक्त किए हैं । उन्होंने मुहम्मद को "महात्मा" माना है तथा इस्लाम के पूज्य व्यक्तियों पर " पंच पवित्रात्मा" नामक पुस्तक भी लिखी है।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 166
2. वही, पृ0 23

इस्लाम के अलावा ईसाई मत के भी विरोधी नहीं होने से भारतेन्दु ने लॉड लौरेंस द्वारा स्कूलों में बाइबल पढ़ाने की सूचना का स्वागत किया है ।[1] यानी कुल मिलाकर हिन्दू धर्म के अलावा अन्य धर्मों तथा ईश्वर के बारे में उनका मत था;

"अहो तुम बहुँविधि रूप धरो ।
जब जब जैसा काम परै तब तैसा भेष धरो ।
कहुं ईश्वर कहुं बनत अनीश्वर नाम अनेक धरो ।।"[2]

इस तरह भारतेन्दु की भारतीय अस्मिता संबंधी आत्म संघर्ष दयानंद से व्यापक दिखाई देता है । इस लिए " वैष्णावता और भारतवर्ष " में धर्म की प्राचीनता स्थापित करते हुए अंत में वे लिखते हैं -" उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्य क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं । वैष्णव, शैव, ब्राह्म, आर्य-समाजी सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं, इससे ऐश्वर्यरूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बंधता । इन सब डोरी को एक में बांधकर मोटा रस्सा बनायो तब यह हाथी दिगदिगंत भागने से रूकेगा । अर्थात् अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें ।"[3] अर्थात भारतेन्दु के यहाँ भारतीय स्वत्व-रक्षा के लिए तथा लोगों के बीच एकता की भावना को उठाने के लिए केवल हिन्दुओं के संगठन का आग्रह या अन्य धर्मों का विरोध देखने को नहीं मिलता । वरन् उनकी भारतीयता में प्राचीन वैष्णव धर्म तथा नवीन धर्म की समानता और भारत के जिस ऐक्य का संकेत मिल जाता

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 629
2. वही, पृ0 38
3. वही, पृ0 976

है, वह वैष्णव, ब्रह्म, शैव, आर्य समाजी और अन्य सम्प्रदायों के एक दूसरे से विरक्त रहने के कारण उत्पन्न कमजोरी को हटाकर संगठन की विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित करता है । इस तरह भारतेन्दु अन्य धर्मों तथा देवी-देवताओं के विरोधी नहीं होकर हिन्दू धर्म के अलावा अन्य सभी धर्मों के प्रति लिबरल थे । अपनी इस लिबरल चेतना के कारण उनका विश्वास था कि सभी धर्मों की उन्नति तथा उन धर्मों की विविधता के संगठन से भारतीय अस्मिता अथवा एकता का सच्चा स्वरूप निर्मित हो सके ।

दयानंद तथा भारतेन्दु दोनों के बीच धर्म संबंधी भारतीय अस्मिता बोध से एक और महत्वपूर्ण बात हमें सोचनी होगी कि सांस्कृतिक नवजागरण के दौरान इस अस्मिताबोध से विकसित भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति इन दोनों की विचारधाराएं किस रूप में जनता के सामने रखी गयी थी । पहले आर्य समाज को देखें, तो उसकी अनेक सीमाओं में से सबसे प्रमुख मानी जाती है उसकी संकीर्ण अर्थ में अस्मिताबोध से उत्पन्न भारतीय राष्ट्रीयता । भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण काल में राष्ट्रीय भावना या राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रीय नेता, समाज सुधारक तथा साहित्यकार संघर्ष कर रहे थे । पर उनमें से दयानंद जैसे कुछ पंडित तो हिन्दुत्व का ही संघर्ष करते हुए व्यापक अर्थ में भारतीय राष्ट्रीयता नहीं, वरन् संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक अर्थ में हिन्दू-राष्ट्रीयता की संकल्पना कर रहे थे । दयानंद के शब्दों में --" आर्यवर्त देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इस में आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इस की अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में बिन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्म पुत्र नदी है।

इन चारों के बीच में जितना देश है उसको आर्यावर्त कहते हैं और जो इस में सदा रहते है उनको भी आर्य कहते हैं ।"[1] दयानंद के इस कथन में आर्य निवासी की सीमा केवल हिन्दू धर्म के लोगों तक ही है । अर्थात उनकी राष्ट्रीयता में हिन्दू धर्म तथा राष्ट्र के समानार्थीकरण की प्रवृत्ति प्रबल रूप में विद्यमान है ।

भारत के इतिहास में मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक वस्तुत: अब भी धर्म और समाज अथवा धर्म और राष्ट्र को एक में मिला देने का प्रयास होता रहता है । धर्म और राष्ट्रीयता दोनों शब्दों से एक और बात निकलती है " राष्ट्रीय धर्म " । पराधीनता या संकट की स्थिति में राष्ट्रवाद जब धर्म का रूप ग्रहण कर लेता है, तो "राष्ट्रीयता " को कभी "राष्ट्रीय धर्म" भी कहा जाता है । इसका उदाहरण हम दयानंद के वैदिक हिन्दू धर्म पर आधारित राष्ट्रीयता में देख चुके हैं ।

लेकिन वास्तव में देश-विशेष की राष्ट्रीयता और उसकी धार्मिक चेतना में अन्तर होता है । राष्ट्रवाद मानव विवेक से सम्बद्ध है और एक विशिष्ट अनुशासन से संचालित रहता है, जबकि धर्म मूलत: व्यक्ति के विश्वास और भावना से सम्बद्ध होने के कारण व्यक्ति-सापेक्ष है । इसी कारण धर्म समाज के व्यक्ति या सम्प्रदाय-विशेष तक सीमित रहता है, जबकि राष्ट्रीयता संपूर्ण राष्ट्र की ही चेतना है, इसका उदाहरण हम भारतेन्दु की राष्ट्रीयता

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 563

और धार्मिक चेतना में स्पष्टत: देख सकते हैं ।

भारतेन्दु स्वयं धार्मिक होते हुए अपने जमाने के समाज में आर्य समाज के प्रबल सशक्त प्रभाव के बावजूद भी धर्म और राष्ट्र के समानार्थीकरण की प्रवृत्ति का अतिक्रमण करते थे । वे हिन्दुओं तथा अन्य धर्मों के अन्दर धार्मिक सम्प्रदायवाद का खण्डन करते हुए लोगों के बीच इस राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय भावना को उठाने के लिए अपने धर्म और देश के प्रति शुद्ध प्रेम और उदार जैसी भक्ति भावना जागृत करना चाहते थे । हिन्दुओं के अन्दर साम्प्रदायिक भावना तथा तत्कालीन धार्मिक विभक्ता का खण्डन करते हुए वे कहते हैं;"वैष्णव शक्ति इत्यादि नाना प्रकार के मत के लोग आपस का वैर छोड़ दें । यह समय इन झगड़ों का नहीं । हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए । जाति में कोई चाहे ऊँच हो चाहे नीचा हो सब का आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसको वैसा मानिए । छोटी जाति के लोगों को तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए । सब लोग आपस में मिलिए ।"[1]

इस तरह तत्कालीन बिगड़ी हुई धार्मिक स्थिति तथा उसके अन्दर संकीर्ण धार्मिक चेतना की आलोचना करते हुए वे संपूर्ण भारतीयों की धर्म-जाति-रंग आदि निरपेक्ष राष्ट्रीय एकता का जो आग्रह करते हैं, वह भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का परम रूप माना जाता है; " जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है । हिन्दू की सहायता करो । बंगाली मरहठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो ।"[2]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1013
2. वही, पृ0 1013

यद्यपि इतिहास-कार सुधीर चंद्र जैसे कुछ लोगों ने भारतेन्दु की राष्ट्रीय चेतना में धर्म निरपेक्षता न माना है --" भारतवर्ष की उन्नति के उपायों पर दिये गये सम्वत् 1834 के अपने प्रसिद्ध बलिया भाषण में भारतेन्दु न इस प्रवृत्ति के पक्ष में यह तर्क दिया कि इस संदर्भ में हिन्दू का अर्थ होता है हिन्दुस्तान का निवासी न कि किसी धर्म विशेष का अनुयायी । यदि हिन्दू और भारतीय के समानार्थीकरण की समस्या केवल या प्रधानत: व्युत्पति की होती तो इसे भाषाशास्त्रियों के विवादार्थ छोड़ा जा सकता था, चूंकि तब इस का कोई विशेष ऐतिहासिक सामाजिक महत्व न होता । पर समस्या एक शब्द के संगत या असंगत व्यवहार की नहीं बल्कि उस व्यवहार में निहित मानसिकता की है । अत: यह बात ध्यान देने योग्य है कि हिन्दू शब्द के इस अर्थ विस्तार की धर्म निरपेक्ष व्याख्या करके उसका तार्किक औचित्य स्थापित करने वाले भारतेन्दु स्वयं इस संकुचित जातीय आग्रह से मुक्त न थे जो इस समानार्थीकरण की प्रेरक व्यक्ति है ।"[1] पर भारतेन्दु के यहाँ राष्ट्रीय चेतना में वैष्णवता या हिन्दूवाद छोड़ा गया है । उनके भाषण में "हिन्दू" शब्द का अर्थ हिन्दू धर्म से संबंधित नहीं, बल्कि भारतवर्ष की भूमि पर रहने वाले संपूर्ण भारतीयों के लिए होता है । अपने धार्मिक जीवन में भारतेन्दु की धार्मिक चेतना - अर्थात् वैष्णवता अवश्य दिखाई देती है, पर उनकी राष्ट्रीयता में नहीं । उनके "हिन्दू" शब्द का धर्म निरपेक्ष अर्थ विस्तार पहली बार भारतीय भौगोलिक स्तर पर होने के कारण ऐतिहासिक सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है ।

---

1. "आलोचना" पत्रिका अंक 79 से उद्धृत, पृ0 133

समग्र रूप में, यह सामान्यत: सच है कि एक ही धर्म को अपनाने वाले जन समूह में राष्ट्रीयता का भाव अधिक मात्रा में प्रस्फुटित हो सकता है। एक ही प्रकार के धर्म विश्वास रखने वालों तथा एक ही प्रकार के विधिविधानों का पालन करने वालों में परस्पर बन्धुत्व का भाव अनायास ही विकसित होता रहता है। इसलिए समान धर्मावलम्बियों का सामाजिक जीवन सहज ही परिपक्व हो सकता है और वे राजनैतिक एकता के सूत्र में भी सुगमता से बँध जा सकते हैं। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि यदि धार्मिक एकता राष्ट्रीय एकता के लिए सहायक दे सके, तो इस धार्मिक एकता के कारण उत्पन्न अन्य धर्म के प्रति धार्मिक विरोध राष्ट्रीयता को अवश्य खण्डित कर सकता है। यानी इतिहास इन तथ्यों का साक्षी है कि धर्म की एकता ने किसी देश की राष्ट्रीय एकता बनाए रखने में सहायकता की है। और ऐसे भी प्रमाण मिलेंगे जहाँ धर्म की विभिन्नता के कारण राष्ट्रीयता खण्डित होकर विशृंखलता के गर्व में विलीन हो गई।

भारत जैसे बहुधार्मिक देश में समस्या धार्मिक एकता से अधिक धार्मिक विविधता के अंदर मौजूद धार्मिक विरोध से अधिक होती है। भारत के इतिहास में इस धार्मिक विरोध से उत्पन्न विद्वेष के परिणाम दो तरफ दिखाई देते हैं। एक तो पंडित चमूपति के कथन में हम देख सकते हैं --" आर्य समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरूदंड भी हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उस के धर्म पर कीचड़ उछाले, जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी

इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निपोर कर रह जाता था । लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा यह गुस्से में आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं । किन्तु आर्य-समाज के उदय के बाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गयी । हिन्दुओं का धर्म एक बार फिर जगमगा उठा है। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता ।जरूरत हुई तो धर्म-रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है ।"[1] अर्थात् भारतेन्दु के शब्दों में यह " रेडिकल्स" या " महा रेडिकल्स" बन रहा था । इस धार्मिक विद्वेष का दूसरा परिणाम है कि आगे चलकर भारत की राष्ट्रीयता को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो राष्ट्रों में खण्डित होना पड़ा ।

अत: आवश्यकता इस बात की है कि यदि राष्ट्र में प्रचलित सभी धर्म परस्पर उदार भावना रखें तथा सभी को अपने-अपने स्थान पर विकसित होने की स्वतंत्रता हो, तो निश्चय यही राष्ट्रीय एकता में सहायक होगा । यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक-सामाजिक आन्दोलनों का प्रमुख सारतत्व आर्य समाज मूलत: पुनरूत्थानवादी और सुधारवादी आन्दोलन थे । वह आन्दोलन वैदिक हिन्दू धर्म के आधार पर भारतता-निर्माण के लिए आत्म संघर्ष करके भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय में सहायक हुआ । लेकिन स्वयं इसे राष्ट्रीय आन्दोलन कहना उचित न होता ।

---

1. रामधारी सिंह द्वारा रचित "संस्कृति के चार अध्याय" से उद्धृत,पृ0 56।

मगर आर्य समाज के विपरीत नवजागरण आन्दोलन के दौरान भारतेन्दु द्वारा प्रेरित भारतीय राष्ट्रीयता आज भी बड़े प्रबल रूप में प्रासंगिक होने का कारण यह है कि भारतेन्दु की राष्ट्रीयता में न केवल धर्म निरपेक्ष होता है, बल्कि विभिन्न धर्म, जाति, रंग आदि की एकता का आग्रह सुनाई देता है। और इसी से भारतेन्दु की राष्ट्रीयता की सार्थकता भी बनती है कि परंपरा और संस्कृति के ऐतिहासिक क्रम में यदि धर्म ने युगयुगान्तर से मानव जाति अथवा समाज के जीवन को प्रभावित किया है, तो इसके साथ मानव की दृष्टिकोण भी द्रुतगति से परिवर्तित होती जा रही है। इसी के परिणाम-स्वरूप आधुनिक काल से पूर्ववत् धर्म- चाहे हिन्दू, चाहे इस्लाम या किसी अन्य धर्म- राष्ट्रीयता में बाधक नहीं माना जाता। धर्म का स्थान आज व्यक्तिगत रह गया, राष्ट्रीय स्तर पर नहीं। इसलिए एक राष्ट्रीय भावना रखने वाले लोगों में भिन्न-भिन्न धर्म विश्वास पाए जाते हैं। और धार्मिक विभिन्नता होते हुए भी राष्ट्रीय एकता भौगोलिक, जनतान्त्रिक तथा सांस्कृतिक स्तरों पर विद्यमान होती है।

xxxx

अध्याय 4

'भारत स्वत्व' का अर्थ

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिन्दी नवजागरण के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ये शब्द `स्वत्व निज भारत गहै ` यथार्थ में भारतीय नवजागरण की मूल समस्या अर्थात् `अस्मिता बोध` की ओर संकेत करते हैं । यह अस्मिता बोध न केवल अंग्रेजी उपनिवेश-वाद द्वारा आरोपित पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से टकराकर उपजी हिन्दी नवजागरण के लेखकों की मूल सोच थी, बल्कि इसके कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु की एक महत्वपूर्ण सार्थकता भी है ।

आम तौर पर भारतेन्दु के सम्पूर्ण साहित्य में विद्यमान भारतीय अस्मिता बोध उनके व्यक्तिगत अंतर्विरोधों के बीच आत्म-संघर्ष का परिणाम है । इसलिए हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु की सार्थकता पर विचार करने से पहले एक ओर उनके साहित्य में निहित आधुनिक प्रगति-शील तत्वों पर ध्यान दिया जाता है तथा दूसरी ओर उनके प्रगतिशील व्यक्तित्व के मूल में मौजूद उन के युग और समाज - उनकी सीमाओं तथा अंतर्विरोधों, उनके व्यक्तिगत सोच और रुझान के परस्पर विरोधाभासों एवं असमंजसों इत्यादि को तटस्थ वस्तुपरक ढंग से उनकी निरी उपयोगिता को देखने का प्रयास भी किया जाता है ।

उपर्युक्त दोनों तथ्यों में से परवर्ती तथ्य हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु की अस्मिताबोध की जांच करने के लिए अधिक प्रासंगिक माना जाता है । क्योंकि उन्नीसवीं सदी का भारतीय समाज ही युगीन अंतर्विरोधों का संश्लिष्ट काल था । उस जटिल युग के समाज में रहते हुए हिन्दी नवजागरण के दौरान भारतेन्दु के साहित्य में उस युग तथा समाज के अन्तर्विरोध का प्रकट होना स्वाभाविक था । वे इन अन्तर्विरोधों के बीच आत्म-संघर्ष करते थे । और इस आत्म-संघर्ष की प्रक्रिया का

का परिणाम ही उन का 'स्वत्व निज भारत' अर्थात् भारतीय अस्मिता-बोध है ।

इस तरह भारतेन्दु के आत्म-संघर्ष में व्याप्त ये अन्तर्विरोध केवल उन से ही नहीं, बल्कि तत्कालीन संपूर्ण भारतीय समाज और जाति के अन्दर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सभी स्तरों पर विद्यमान अन्तर्विरोधों से संबंधित थे । इन सब के साथ भारतेन्दु के अस्मिताबोध संबंधी आत्म-संघर्ष के संदर्भ में एक बात और सोचनी होगी कि अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के साथ भारत में यूरोप की प्राच्यविद्यावादी विचार-धारा का आक्रमण भी था ।

भारतीय अस्मिताबोध के लिये भारतेन्दु के आत्मसंघर्ष की पृष्ठ-भूमि में यदि आधुनिक काल ले आने तथा इससे जागृत चेतना प्रेरित करने का श्रेय अंग्रेजी उपनिवेशवाद को है, तो इस जाग्रत चेतना से भारत में स्वत्व-रक्षा की भावना को अधिक तेजी से जगाने का श्रेय भी इस उपनिवेशवाद तथा इसके अंदर मौजूद प्राच्यविद्यावादी विचारधारा को है । इस प्राच्यविद्यावाद के मूल में तर्क यह था कि भारत जैसे एशियायी अर्थात् पूर्व के देश यूरोप की तुलना में हमेशा पिछड़ा तथा गुलाम ही रहे हैं । इस प्राच्यविद्यावादी विचार का एक उदाहरण सन् 1853 ई० में 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में प्रकाशित कार्ल मार्क्स के कथन में देखा जा सकता है --'यह सच है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रांति लाने के लिए इंग्लैण्ड ने जो कुछ किया था, उसके पीछे उसके निकृष्ट स्वार्थों की पूर्ति का लक्ष्य निहित था । इसके लिए उसने जो तरीका अपनाया, वह दुष्टतापूर्ण था । पर प्रश्न यह नहीं है । प्रश्न है कि क्या मनुष्य-जाति एशिया

की मौलिक व्यवस्था में सामाजिक क्रांति हुए बिना अपने लक्ष्य तक पहुंच सकती है। यदि नहीं तो इंग्लैण्ड ने जो अपराध किए हों, इस क्रांति को लाने में वह अनजाने इतिहास का हथियार बन गया'।[1] मार्क्स के इस कथन में निहित प्राच्यविद्यावादी विचार अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के दौरान आत्मसजग भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच स्वत्व-रक्षा के प्रयत्न में सब से बड़ी बाधा डालने वाला था। इसलिए नवजागरण के दौरान भारतेन्दु के अलावा उन दिनों अधिकांश भारतीय साहित्यकारों को अस्मिता-बोध के लिए अनेक स्तरों पर इस प्राच्यविद्यावाद के प्रति जाने-अनजाने आत्म-संघर्ष करना था।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना और समाज में आर्थिक ढांचे के अंदर परिवर्तनों के कारण इनसे जूझने के लिए नये दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ी। यद्यपि अतीत में दर्शन, ज्योतिष, गणित, औषधि-विज्ञान, धर्म-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, व्याकरण आदि ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में भारत ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। पर अब उन प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की रूढ़ियों और उपयोगिताओं पर प्रश्नचिह्न लगाये जाने लगे। जैसे इस ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का मूल स्रोत वह धर्म था, जो रूढ़ अर्थों में अपरिवर्तनीय होने के कारण नये अभिनिवेश और परिवर्तन के विरुद्ध था। तथा ज्ञान-विज्ञान की इस शिक्षा का माध्यम आम जनता की भाषा नहीं होने के कारण यह समूचे भारतीयों की जगह कुछ विशिष्ट वर्ग के लोगों तक ही सीमित थीं।

मगर उस गतानुगतिक और परंपरायुक्त भारतीय ज्ञान की तुलना में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान नये जीवन-संदर्भों की ताजगी लेकर आया था। यदि भारतीय ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य आध्यात्मिक और पारलौकिक था,

---

1. 'आलोचना'-19 से उद्धृत, पृ० 5

तो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का भौतिक और इहलौकिक । जब भारत का विद्या वर्ग जाति विशेष तक सीमित था, तो पाश्चात्य विद्या सर्व सुलभ थी । इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी के परिवर्तनशील युग में आधुनिकता की लहर में प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा उसकी शिक्षा-प्रणाली नये युग और समाज में प्रकट होने वाले परिवर्तनों से जूझने के लिए समर्थ नहीं दिखाई देती । इस लिए उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में अंग्रेज़ों के क्रियाकलाप ही नहीं, बल्कि इतिहास के विकास-शील क्रम के अंदर युग की मांग भी आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की ओर जा रही थी । इस नयी शिक्षा प्रणाली द्वारा भारतीयों को जिस ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि हुई, उसने भारत के इतिहास में आधुनिकता लाने में बहुत गत्यात्मक सहायता दी । यही कारण है कि आधुनिक शिक्षा-पद्धति का समारंभ भारत में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना मानी जाती है ।

सन् 1813 ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक नये चार्टर को स्वीकार दि , जिसके अनुसार शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गई । इससे अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने वाले बहुत से स्कूल-कालेज खोले गये । अंग्रेजी शासकों के इस प्रयत्न के अलावा ईसाई मिशनरियों ने भी ईसाई धर्म-प्रचार के कार्य को अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से अधिक तेजी से करना शुरू कर दिया । ईसाई धर्म तथा मिशनरी संस्थाओं द्वारा स्थापित स्कूलों और कालेजों में ईसाई धर्म के साथ-साथ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाने लगी ।

समस्या यह थी कि इस पश्चिमी शिक्षा से भारत में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तथा चेतना तो आयी, पर इसके साथ ही इस नये ज्ञान-विज्ञान

और पाश्चात्य विचारधाराओं के अंदर मौजूद उस प्राच्यविधावाद से भारतीय अस्मिता संकट में पड़ रही थी, जिस ने उपनिवेशवादी शासन के अंदर पीड़ित भारतीयों के मन में न केवल राजनीतिक स्तर पर ही पराधीनता की भावना महसूस करवायी, वरन् ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक आदि स्तरों पर भी पराधीनता या हीनता की भावना महसूस होने से नव शिक्षित तथा जागृत भारतीयों के बीच स्वत्व-रक्षा की भावना भी जगायी थी ।

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के साथ साहित्य के क्षेत्र में प्राच्य विधावाद का सब से प्रमुख तत्व सर् विलियम जोन्स के `इंडियन लिटरेचर`, `दि लिटरेचर ऑफ एशिया` और `संस्कृत लिटरेचर` आदि में प्रकट हुआ था । अर्थात् सर् विलियमजोन्स के अलावा अन्य प्राच्य-विधावादियों के विचार में साहित्य संस्कृत जैसी किसी खास भाषा का अथवा एशिया या इंडिया जैसे किसी विशेष क्षेत्र का था, जिस का अर्थ `साहित्य` से अधिक किसी भाषा अथवा क्षेत्र के जानकारी या `टेक्सट` के रूप में था ।[1] ताकि वह उपनिवेशवादी शासन तथा उसके फैलाव में सहायता देने वाली उपयोगी चीज बन सके । इस प्राच्यविधावादी विचारधारा से न केवल भारतीय साहित्य के विकास में रुकावट आई, बल्कि उसके अन्दर मौजूद भारतीय अस्मिता भी संकट में पड़ी ।

इस तरह प्राच्य विधावादियों ने भारतीय साहित्य के तत्वों को संस्कृति और साहित्य के अलावा अनेक अन्य स्तरों पर भी उपनिवेशवादी शासन के फैलाव के लिए प्रयोग किया । इसके परिणामत: यद्यपि एक ओर

---

1. डा० सि० ए० ब्रेक्केनिरद्ज एण्ड पिटर वन डेर् विर - `ओरिएन्टलिज्म एण्ड दि पोस्टकोलोनियल प्रेडिकमेण्ट, पृ० 161

अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रभाव से भारतीय साहित्य में नयी चेतना और नये विषय आदि उत्पन्न होकर 'एन्लाईटेनमैण्ट' अथवा नवजागरण तथा आधुनिक साहित्य को प्रादुर्भूत किया था, पर दूसरी ओर यूरोपीय साम्राज्यवादी और प्राच्यविधावादी विचारधारा से इन नव शिक्षित साहित्यकारों में से कुछ लोगों के मन में अपने साहित्य तथा संस्कृति की तुलना में पश्चिमी साहित्य को अधिक उच्च स्तरीय मानने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हुई । अर्थात् अंग्रेजी पढ़े-लिखे नव-शिक्षित भारतीय लोग न केवल पश्चिमोन्मुख होने लगे थे, बल्कि प्राच्य विधावादी विचारधारा से उनको जाने-अनजाने अपनी संस्कृति के प्रति हीनता की भावना भी महसूस होने लगी ।

इसलिए हिन्दी नवजागरण के दौरान अस्मिताबोध के लिए भारतेन्दु के आत्म-संघर्ष में न केवल साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के प्रति विरोध दिखाई पड़ता है, बल्कि उन के मूल में मौजूद प्राच्यविधावाद से नष्ट होने वाले भारतीय स्वत्व की रक्षा की चिन्ता भी देखने को मिलती है । इसी कारण भारतेन्दु के आत्म-संघर्ष में इस पर ध्यान देना अनिवार्य होगा कि युगानुकूल उद्भूत अपने समाज तथा युग के अंतर्विरोधों के अलावा अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के मूल में मौजूद प्राच्यविधावादी विचारधारा से संघर्ष किस रूप में प्रकट हुआ । ताकि नवजागरण के अलावा संपूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य में तथा आज के युग में भी भारतेन्दु की सार्थकता और प्रासंगिकता - 'भारतीय अस्मिताबोध' के सही निर्माण को रेखांकित किया जा सके ।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के अन्दर अन्तर्विरोधों और उनके बीच आपसी सम्बन्धों को समझने के लिए सब से पहले भारतेन्दु के समाज तथा युग के अंदर मौजूद अन्तर्विरोधों पर विचार करना होगा । इस में हमें देखने को

मिलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में सब से प्रमुख अन्तर्विरोध यह था कि परंपरागत भारतीय समाज में अंग्रेजों के आगमन से आधुनिकता की लहर आ चुकी थी । पर अब भी भारतीय समाज मध्यकालीनता से पूरी तरह न छूट पाया । अर्थात समाज में मध्यकालीनता और आधुनिकता दोनों साथ-साथ चलती थीं ।

अपने युग के इन अन्तर्विरोधों के कारण भारतेन्दु का युग था मध्य-कालीन संस्कारों तथा आधुनिकता की लहरों से आये नवजागृत विवेक के बीच गहरे संघर्ष का समय । यूरोपीय संस्कृति नयी वैज्ञानिक सभ्यता और चिन्तनधारा पर आधारित थी, जबकि परंपरागत भारतीय संस्कृति धर्म और अध्यात्म-प्रधान थी । इसलिए इन दोनों भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के बीच टकराते हुए भारत और पश्चिम में इस प्रकार भेद किया जाने लगा; एक तरफ भारत का सब कुछ स्वीकार्य माना जाय और पश्चिम का अस्वीकार्य । अर्थात् बाह्य संस्कृति से संपर्क होने से उस की प्रतिक्रिया के रूप में प्राचीन भारतीय संस्कृति पर अधिक चिपके तथा पश्चिम के विरुद्ध रहते हुए वे पश्चिम की तुलना में अपने गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान करना चाहते थे । पर कुछ अन्य लोग पश्चिमोन्मुख होकर ज्ञान-विज्ञान के नये आलोक में देश की प्रगति की नयी दिशाएं तलाशने का प्रयत्न करते थे । इससे सुधारवादी, विकासशील लेखक आदि आये थे ।

लेकिन उपर्युक्त दोनों दलों के सभी लेखकों - चाहे पुनरुत्थानवादी हों, चाहे सुधारवादी अथवा नवजागरण के हों - के बीच इन विचारधाराओं का मिला-जुला रूप दिखाई देता है । अर्थात् पुनरुत्थानवादी होते हुए भी उन में आधुनिकीकरण की आकांक्षा थी तथा नवजागरण के रचनाकार अथवा सुधारवादी होते हुए भी वे अतीत-गौरव गान में संलग्न थे । इस तरह उस समय के साहित्यकार चाहे नवजागरण के विचारक हों, चाहे

अतीतवादी छोरों पर हों, उनमें पुनरुत्थानवाद तथा नई चेतना के बीच अन्तर्विरोध साफ तौर पर नजर आता है ।

युग की इस स्थिति के कारण स्वयं भारतेन्दु को न केवल अपने समय के अन्तर्विरोध - अर्थात् परंपरागत भारतीय संस्कृति और पश्चिम की नयी संस्कृति के प्रभाव के बीच आत्म-संघर्ष करना था, बल्कि इस युगीन अन्तर्विरोध के कारण विभाजित तत्कालीन बुद्धिजीवियों तथा साहित्यकारों से भी संघर्ष करना था । स्वयं भारतेन्दु में ही नहीं, उन के मंडल के अधिकांश साहित्यकारों के सामने भी यह बहुत गंभीर समस्या थी ।

अपने समय के इस अंतर्विरोध के अंदर भारतेन्दु अपनी चयनधर्मी चेतना से अनुशासित होते हुए एक ओर भारतीय जीवन के ज्वलंत पक्षों से जुड़ने का उपक्रम करते थे तथा दूसरी ओर पश्चिम से भी वे सब लेने की सिफारिश करते थे जो विकास और प्रगति की स्पर्धा में उन के अपने देश और देश-वासियों को पिछड़ने न दे । अर्थात् वे पश्चिम के वैज्ञानिक ज्ञान-विज्ञान को मानते हुए पश्चिम की तुलना में भारत के संस्कृति तथा अतीत के गौरव का गान करने वाले परंपरावादी और आधुनिकवादी भी थे । उन के विचार में भारत का इतिहास तथा उस की संस्कृति आदि पश्चिम की तुलना में पिछड़ा या गुलाम नहीं, वरन् गौरवपूर्ण था :

> कहँ गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर ।
> चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि के चिर ।।
> कहँ क्षत्रिय सब मरे जरे सब गये कितै गिर ।
> कहँ राज को तीन ज्ञान जेहि जानत है चिर ।।
> कहँ दुर्ग-सैन-धन-बल गये धू रहि धूर दिखात जग।
> जागो अब तो खल-बल-दलन सदा हु अपनी आयं जग ।।[1]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 475

पर भारतेन्दु के इस गौरवपूर्ण प्राचीन अतीत का स्मरण मूलत: वर्तमान दु:समोचन के लिए किया गया था । वे तत्कालीन भौतिक अथवा वैज्ञानिक आदि परिस्थितियों को देश का पिछड़ापन मानकर विचार भी करते थे ; वे मध्यकालीनता से आगे भारत के आधुनिकीकरण तथा उन्नति का आग्रह करते थे, जो उन की अतीत विरोध की भावना नहीं होकर प्रगतिशील चेतना अथवा व्यक्तित्व का प्रमाण माना जाता है ।

भारतेन्दु पुराने विचारों का समर्थन करते हुए नवीन विचारधारा के पोषक भी थे । सत्य के पुजारी भारतेन्दु समय के बिगड़े हुए रीति-रिवाजों को संभालने में लगे रहते थे । उपदेश तथा शिक्षापूर्ण व्याख्यानों में वे नई बातों का भी समर्थन करते थे । वर्ण व्यवस्था में उन का विश्वास था । परन्तु परंपरागत धर्म को समयानुसार बदलने के वे पक्षपाती थे । धर्मशास्त्र में भी वे सत्य का ही विशेष महत्व चाहते थे । अछूतोद्धार के भी वे किसी हद तक समर्थक थे । बाल विवाह के वे पक्षपाती नहीं थे । स्त्री-शिक्षा, ऐक्य, हिन्दी-राष्ट्र भाषा के प्रचार आदि कार्यों में वे सदा संलग्न रहते थे ।

अपने इस व्यक्तित्व के कारण वे गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाते हुए प्राचीन संस्कारों के आडम्बर को आधुनिक युग के अनुकूल सुधारना चाहते थे । इसके लिए वे सदियों से सोये हुए भारतवासियों को जगाना और उससे देश की उन्नति करना चाहते थे; "वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो । धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था, सब जाति, सब देश

में उन्नति करो ।"[1] उनके व्यक्तित्व में इस उन्नति की आकांक्षा के कारण भारतेन्दु पुनरुत्थानवादी से आगे नव जागृत रचनाकार के रूप में प्रकट हो सके थे ।

एक और बात ध्यान से देखें, तो भारतेन्दु के साहित्य में इन परंपरावाद, सुधारवाद और नवजागृत चेतना के बीच अन्तर्विरोध के मूल में आपस में विरोधाभास नहीं, बल्कि अंग्रेजी उपनिवेशवादी ढांचे के अंदर प्राच्यविद्यावादी विचारधारा से संघर्ष का सिलसिला था । वे प्राच्य-विद्यावादी अवधारणा के विरुद्ध अपनी संस्कृति की हीनता नहीं, वरन् गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाकर भारतीय स्वत्व की रक्षा करना चाहते थे।तथा इससे आधुनिक युग के अनुकूल भारतीय अस्मिता की उन्नति की आकांक्षा से प्राचीन आडम्बर को सुधार कर भारतीय अस्मिता की उन्नति से देश की दासता या गुलामी जैसी सांस्कृतिक पराधीनता का विरोध करते थे ।

इसलिए भारतवासियों के आलस्य, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष, मुकदमे-बाजी आदि दुर्गुणों पर सुधारेच्छा से तीखे व्यंग्य किया करते थे :

> डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो ।
> आलस-देव गहि दहन हेतु चहूँ दिसि सों लो ।।
> महा गूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो।
> कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो।।
> अपनी अपनायौजानि कै करहु कृपा गिरिधर धरन ।
> जागो बलि वेगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन सरन ।।[2]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 1012
2. वही, पृ० 211

इस तरह भारतेन्दु नवजागरण के अन्तर्विरोध से गुजरते हुए उसके उस पहलू की गिरफ्त में नहीं आते या आना चाहते जो पुनरुत्थान-वाद के नाम पर अतीत में ही जाने या उसकी गरिमा से अभिभूत होने में ही भारतीय अस्मिता तथा निजी गौरव की रक्षा मानता था । वे चाहते थे कि नयी-से-नयी शिक्षा प्राप्त करके भारतवासी अपने नये भविष्य को गढ़ें । वे नवजागरण की उस लहर के साथ आगे बढ़ते हैं, जो भारतीय गौरव तथा भारतीय अस्मिता के प्रति सजग होते हुए भी आगे की ओर बढ़ती हुई लहर थी अर्थात् जिस की लहर पीछे की ओर न जाकर एक ऐसी मंजिल की ओर बढ़ती थी, जहां वह न केवल सुधार-वादी होकर एक नए और आधुनिक भारत के किनारे को छू सके, बल्कि प्राच्य विद्यावाद के विरुद्ध सांस्कृतिक दासता की भावना से भारत को मुक्त कर सकें ।

भारतेन्दु के स्वर में अतीत-गौरव के साथ एक और बात हमारा ध्यान खींचता है कि आधुनिक विचार का सम्बोधन करते हुए भी भारतेन्दु अंग्रेजी की ओर उन्मुख नहीं होकर जिन नव शिक्षित बुद्धिजीवियों का खण्डन करते थे, उन लोगों ने स्वत्व और आत्म-सम्मान को त्याग कर विदेशी आचरण तथा गुलामी स्वीकार कर लिया था :

> अपनी वस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई ।
> निज चाल छोड़ि गहिहैं और न की घाई ।।
> तुरकन हित करिहैं हिंदू संग लराई ।
> यवनन के चिर नहिं रहिहैं सीस चढ़ाई ।।[1]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 483

भारतेन्दु चाहते थे कि अंग्रेजों के द्वारा प्रेरित नवीन आधुनिक वैज्ञानिक चेतना के सहारे भारत के लोगों के बीच जागृत चेतना और उन्नति की आकांक्षा उत्पन्न हो। तथा इस जागृत चेतना के अंदर वे अंग्रेजी शिक्षा के फैलाव के साथ प्राच्यविद्यावादी विचारधारा से प्रेरित बौद्धिक और सांस्कृतिक दासता बढ़ जाने से चिन्तित थे :

> परदेशी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस ।
> पर बस ह्वै कब लौं करो रहि ह्वौ तुम ह्वै दास ।।[1]

इस तरह भारतेन्दु में अपने समय के अन्तर्विरोध के तहत प्राचीनता तथा आधुनिकताबोध परस्पर गुंफित होकर प्रगतिपरक विकासशील चेतना परिलक्षित होती है । इस विकासशील चेतना के साथ भारत की उन्नति की भावना आधुनिकता के साथ नए सूत्र को जन्म देती है, जिस के अन्दर मनुष्य में अपने पुरुषार्थ से, निजी शक्ति से अपनी स्थितियों को बदल सकने की चेतना मिलती है । अतः भारतेन्दु के मन में यद्यपि अस्मिताबोध अतीत-गौरव से उद्भूत होने से पुनरुत्थानवाद की प्रतिगामी चेतना का प्रतीक था, किन्तु पुनरुत्थान एवं नवजागरण के प्रति उनके मन में आग्रह था जो प्राच्यविद्यावादी अवधारणा द्वारा परिपोषित किया गया था और भारतेन्दु इस अवधारणा से संघर्ष करते हुए ऐतिहासिक विकास-क्रम में स्वयं को आगे ले जाना चाहते थे । इस कारण इस नये संस्कार की नोटिस हमें लेनी चाहिए, जो मध्यकालीनता से आधुनिक युग की ओर जाने वाली परिवर्तनशील समय से गुजरते हुए भारतेन्दु के आत्म-संघर्ष का निर्माण तथा उन की आधुनिक हिन्दी साहित्य में सार्थकता बनती है ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 230

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय इतिहास में न केवल परिवर्तन-अर्थात् मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर - का समय था, बल्कि यह अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन का समय भी था । इस उपनिवेशवादी ढाँचे के अंतर्गत भारतेन्दु का प्रमुख अन्तर्विरोध उन की राष्ट्रीयता की चेतना में प्रकट होता है ।

भारतेन्दु के अनुसार 'स्वत्व'-प्राप्ति की सब से पहली शर्त थी राजनीतिक स्वाधीनता । पराधीनता के गहरे अहसास के संदर्भ में अपनी राष्ट्रीय और जातीय अस्मिता की खोज और अभिव्यक्ति इस समय का सबसे बड़ा मुद्दा बन गया था । पर वास्तविकता यह थी कि केवल भारतेंदु के ही नहीं, बल्कि नवजागरण कालीन प्रकाशित अधिकांश हिन्दी साहित्य में राजनीतिक स्वाधीनता का स्पष्ट स्वर कम ही सुनाई पड़ता था; विशेषकर सन् सत्तावन के प्रथम राजनीतिक स्वाधीनता संग्राम के बारे में । तथा उन के संपूर्ण रचना-क्रम में अंग्रेजी शासन के खात्मे आदि का स्वर भी लगभग नहीं सुनाई देता था । इससे अधिक उन्होंने सत्तावनी क्रांति के बाद रानी विक्टोरिया के शासन के घोषणापत्र का स्वागत भी किया । वगैरह-वगैरह । इसके कारण सामान्य रूप में भारतेन्दु के राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय अस्मिता बोध में अन्तर्विरोध माना जाता है । अर्थात् उन के अस्मिता बोध के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता अनिवार्य होने के बावजूद भी उन की रचना में उस का उल्लेख - या कम से कम सत्तावनी क्रांति के प्रति उल्लेख लगभग नहीं दिखाई देने से उन की राष्ट्रीयता संबंधी भारतीय अस्मिताबोध की भावना में अन्तर्विरोध दिखाई देता है ।

पर ध्यान से देखें, तो यह अन्तर्विरोध नहीं होकर एक तरह से नवजागरण काल के युगीन संदर्भ में स्वाभाविक माना है । तत्कालीन भयानक अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत राजनीतिक स्तर पर अंग्रेजों के विरोध

में खड़े होना अथवा स्वाधीनता का आग्रह करना मुश्किल था, खास कर सत्तावनी क्रांति के बाद और भी अधिक । वे स्वयं कहते थे --

"कठिन सिपाही द्रोह-अनल जा जनबल नासी ।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी ।।"[1]

तथा दूसरी ओर यह भारतेन्दु के अस्मिताबोध में अर्थ-व्यापकता का निर्माण माना जाता है । अपनी अस्मिताबोध संबंधी मुक्ति-भावना में वे न केवल राजनीतिक स्तर पर ही अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन से स्वाधीनता प्राप्त करना चाहते थे, वरन् सांस्कृतिक, आर्थिक तथा अन्य अनेक स्तरों पर भारत की मुक्ति की आकांक्षा रखते थे, जो उपनिवेश-वाद के अलावा प्राच्य विद्यावाद के कारण भारतीयों के मन में उत्पन्न दिमागी गुलामी से मुक्त होने की आकांक्षा थी ।

इसी कारण हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का मंत्रोच्चार करने वालों में सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ही नाम लिया जाता है । उनके उत्कृष्ट देश-प्रेम की भावना का प्रतीक 'भारत दुर्दशा' नाटक है । इस नाटक में भारतेन्दु राष्ट्रीय भावना के मूल में भारतीय अस्मिता की चेतना को जगाकर भारतीयों में अपने संस्कृति तथा देश के प्रति जागृत चेतना उठाकर केवल राजनीतिक स्तर पर स्वाधीनता ही नहीं, वरन् अपने राष्ट्र की स्वत्व की खोज का प्रयत्न भी करते थे ।

मुख्यत: भारतेन्दु की रचनाओं में राजनीतिक पहलू की अपेक्षा सांस्कृतिक नवनिर्माण तथा आर्थिक उन्नति अधिक दृष्टिगोचर होती है ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 255

इसी कारण यद्यपि भारतेन्दु के साहित्य में सत्तावनी क्रांति के बारे में अंग्रेजी-विरोध का स्वर कम उभरता है, फिर भी भारतेन्दु के आत्म-संघर्ष का यह प्रमाण है कि उन के रचनाक्रम में ब्रिटेन राज की आलोचना बढ़ती जाती है, तीव्रतर होती जाती है तथा वे खुले आम ब्रिटिश शासन का मखौल उड़ाने लगते हैं, उसके तथाकथित सुशासन का पर्दाफाश करने लगते हैं । इसलिए उन के साहित्य में अंग्रेजों द्वारा प्रेरित अकाल, महामारी, टैक्सों का बोझ, बीमारी, बदहाली, अज्ञान, अशिक्षा, सब का दोषी ब्रिटिश राज ठहराया जाता है ।

इस तरह भारतेन्दु की संपूर्ण राष्ट्रीयता में अंग्रेजी विरोध की भावना की कमी नहीं थी । यद्यपि वे अंग्रेजों द्वारा भारत में दिये गये आधुनिक वैज्ञानिक सुविधा को स्वीकार करते थे तथा स्वागत भी करते थे, पर मुख्यत: भारतेन्दु अंग्रेजों के प्रभाव अथवा उन के शासन द्वारा नष्ट होने वाली भारतीय स्वत्व के लिए चिन्तित थे --"बढ़े ब्रिटिश वाणिज्य में हम को केवल सीक ।"[1]

इसके लिए भारतेन्दु के सामने सब से बड़ी समस्या उपनिवेशवादी ढांचे के अंतर्गत पीड़ित जनता तथा देश की दुर्दशा थी । इस लिए अंग्रेज़ी उपनिवेशवादी शासन के अंतर्गत पीड़ित भारतीय जनता की स्थिति को सुधार कर समाज के विकास से आत्म-गौरव की भावना जगाना तथा इससे राजनीतिक स्तर के अलावा अन्य स्तरों पर अंग्रेजों का विरोध संपूर्ण भारतीय स्वत्व की रक्षा और मुक्ति की भावना, देश-उन्नति तथा राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना चाहते थे ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 1102

अंग्रेजों के विरोध से उपजी राष्ट्रीयता के संदर्भ में भारतेन्दु की मुक्ति और उन्नति की आकांक्षा सब से अधिक आर्थिक स्तर पर सुनाई देती है । देशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रतिज्ञा-पत्र भारतेन्दु ने सन् 1874 ई० में 'कवि-वचन-सुधा' में प्रकाशित किया था । इस पर राम-विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक में ठीक ही कहा कि -"यह प्रतिज्ञा-पत्र भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है ।"[1] अर्थात् उपनिवेशवादी ढाचे के अन्तर्गत अपने समाज की स्थिति के प्रति यह जागृत चेतना भारतेन्दु के यहां प्रखर रूप में राष्ट्रीय हो जाती है, जो नवजागरण की मूल तथा संश्लिष्ट प्रकृति के अनुकूल है । जैसे उन्होंने कहा -"क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमान को सौ वर्ष हुए इनका अधिकार इस देश में है । इन्होंने हमारे धन-धान्य की वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखायी और सब व्यापार और धन सब अपने हस्तगत किया गया, यह खेद की बात नहीं है कि हम को कला-कौशल से विमुख रखा और आप स्वत: व्यापारी बनकर सब देश भर का धन और धान्य अपने देश में ले गए ।"[2] इस तरह भारतेन्दु अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन का खण्डन करते हुए उसके अन्दर पीड़ित सामान्य भारतीयों की शोषण स्थिति का उल्लेख करते हैं; "कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले आदि सब भीख मांगते हैं - खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर हाथ में लम्बा से भीख मांगते हैं और जो निरुधन हैं, उन को तो अन्न की प्राप्ति है ।"[3]

---

1. डा० रामविलास शर्मा -"भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परंपरा", पृ० 3
2. भारतेन्दु समग्र, पृ० 982
3. वही, पृ० 1011

भारतेन्दु के विचार में इस दुर्दशा को सुधारने के लिए भारत-देश और देशवासियों का उद्धार किसी और के द्वारा नहीं होगा, वह उन के अपने प्रयासों से ही होगा । उनका बलिया में दिया गया प्रसिद्ध भाषण इसका प्रमाण है, जिस में उन्होंने भारतवासियों से ही अपने उद्धार के लिए कमर कस कर आगे जाने की जोरदार अपील की है -"तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे, वह करो । देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैण्ड, फरांसीस, जर्मनी, अमेरीका को जाती है । भाइयो, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो, जिस में तुम्हारी भलाई हो, वैसे ही किताब पढ़ो, वैसी ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो । परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा पर भरोसा मत करो ।"[1]

इस तरह भारतेन्दु की राष्ट्रीयता में आर्थिक स्तर पर उन्नति की आकांक्षा में अंग्रेजों के प्रति विरोध भावना, उपनिवेशवादी आर्थिक ढांचे का विरोध तथा उन सब के साथ प्राच्यविधावाद से विरोध में वस्तुत: उन्नति की भावना दिखाई देती है; भारत जैसे पूर्व के देशों को हमेशा गुलाम या पिछड़ा नहीं, बल्कि पूर्व को भी उन्नत देखने की भावना । यही भारतेन्दु के अस्मिताबोध में प्राच्यविधावाद के विरुद्ध सब से प्रमुख परिणाम है । इस लिए भारतेन्दु की राष्ट्रीयता को ध्यान से देखें, तो उन की राष्ट्र-भक्ति में देश-दशा के प्रति पीड़ा, देशवासियों की दुर्गति पर क्षोभ और अवसाद, देशोद्धार की वास्तविक चिन्ता, देश के रूढ़ि-जर्जर स्वरूप पर खेद और आक्रोश, अपनी परंपरा पर गर्व, अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को पाने की ललक तथा

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1013

प्रगति के नये रास्तों पर देश को लाने की चिन्ता, पराधीनता और आर्थिक शोषण से देश की मुक्ति की प्रबल आकांक्षा और इसके लिए किए गए प्रयास आदि-आदि सब मिल जाते हैं ।

मध्यकालीनता और आधुनिकीकरण के बीच आत्म-संघर्ष करते हुए भारतेन्दु के हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता संबंधी एक और महत्वपूर्ण सार्थकता इस तरह प्रकट हुई, जैसे रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में --'भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया । इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद घर कर रहा था, उसे उन्होंने दूर कर दिया । हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए ।'[1] अर्थात् भारतेन्दु ने एक बार फिर साहित्य को सामान्य जनता से जोड़ा । और इस जन-वादी साहित्यकार भारतेन्दु के राष्ट्रीयता संबंधी स्वर में मौलिक स्तर पर देश-उन्नति से उस का सीधा सम्बन्ध सामान्य जनता से था । यानी भारतेन्दु के यहां अस्मिताबोध भारतीय जनता का था । अपने इस जनवादी दृष्टिकोण के कारण यद्यपि वे स्वयं तो मध्यवर्ग के नहीं थे, न गरीब थे और न ही नीच जाति के थे। फिर भी ऊंच-नीच तथा जाति-भेद की भावना के कारण भारतीय जाति की जीवन-शक्ति तथा राष्ट्रीय एकता के क्षीण होने से चिन्तित थे । इसलिए भारतेन्दु ने मतमतान्तरों के प्रति घृणा और जात-पांत के प्रति अवहेलना प्रकट करते हुए कहा :

रचि बहू विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए;
शैव शक्ति वैष्णव अनेक मत प्रकटचलाए ।

---

1. डा० रामचन्द्र शुक्ल -'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० 401

जाति अनेकन करी ऊंच अरु नीच बनायो;
खान-पान-सम्बन्ध सबनि सों बरणि छुड़ायो ।"[1]

इसके परिणामत: भारतेन्दु उपनिवेशवादी शासन के अंदर राष्ट्र-भक्ति तथा उन्नति जैसी राष्ट्रीयता में सामान्य वर्ग तथा नारी और शूद्रों जैसे समाज के मध्य-निम्न वर्ग को भी शामिल करने वाले व्यापक अर्थ में भारतीय राष्ट्रीय एकता का आग्रह करते थे -"जाति में कोई चाहे ऊंच हो चाहे नीच हो, सब का आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो, उसको वैसी मानिए । छोटी जाति के लोगों को तिरस्कार करके उन का जी मत तोड़िए । सब लोग आपस में मिलिए ।"[2]

उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिकीकरण के दौरान पैदा हुए अनेक युगीन अन्तर्विरोध धर्म के स्तर पर सब से अधिक संश्लिष्ट दिखाई देते हैं । इस लिए नवजागरण के दौरान भारतेन्दु के साहित्य में अस्मिता संबंधी अनेक आत्म-संघर्ष धर्म के संदर्भ में दिखाई देते हैं । उपनिवेशवादी शासन के अंदर आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा और ईसाई मिशनरी द्वारा ईसाई धर्म के प्रसार ने प्राचीन भारतीय धार्मिक संस्कृति पर प्रभाव डाला । उसी प्रक्रिया में उपनिवेशवादियों ने एक ओर धर्माधारित भारतीय संस्कृति को प्रभावित करने से भारतीयों की निन्दा करके धार्मिक स्तर पर सुधार-वादी चेतना जगाने में सहायता दी । पर दूसरी ओर प्राच्यविद्यावादियों ने भारतीय धर्मों - विशेष कर हिन्दू और इस्लाम धर्म पर आक्रमण करके धार्मिक स्वत्व-रक्षा की भावना भी जगायी ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 210
2. वही, पृ० 1012

इस तरह नवजागरण के दौरान धार्मिक स्तर पर अंतर्विरोध से भारतेन्दु संघर्ष करते थे । वे स्वयं परम वैष्णव और ईश्वरवादी होते हुए धर्म के प्रति गो, द्विज और श्रुति का आदर तथा जाति-पांति के प्रति आस्था रखते थे । उन्होंने वैष्णव धर्म की उन्नति के लिए 'तदीय समाज' की स्थापना भी की थी । पर दूसरी ओर भारतेन्दु अपनी 'प्रेम योगिनी' कविता में ईश्वर के विरुद्ध अधर्म की बात भी बोलते हैं -'इस से बढ़ कर और दुःख का विषय क्या होगा कि मेरा आज इस जगत के कर्ता और प्रभु पर से विश्वास उठा जाता है और सच है क्यों न उठे, यदि कोई हो तब न उठे । हां ! क्या ईश्वर है तो उस के यही काम हैं जो संसार में हो रहे हैं ? क्या उसकी इच्छा के बिना भी कुछ होता है ? क्या लोग दीनबन्धु दया सिन्धु उसे नहीं कहते ? ... क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर भी उसकी इच्छा बिना ही दुःखी होते हैं और दुष्ट मूर्खों के अपमान सहते हैं । क्या इस कमलवन रूपी भारत भूमि को दुष्ट गजों ने उसकी इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया ? क्या जब नादिर-चंगेज खां ऐसे निर्दयी ने लाखों निर्दोषी जीव मार डाले तब वह सोता था ? क्या सब भारत खण्ड के लोग ऐसे कापुरुष और दीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गये ? ... ऐसे निर्दय को लोग दयासमुद्र किस मुंह से पुकारते हैं ?'[1]

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि धर्म के प्रति भारतेन्दु प्राचीन धर्म की सीमाएं तथा धार्मिक आडम्बर के अवरोध की स्पष्ट पहचान करते थे और उसे सुधारना भी चाहते थे । पश्चिम की तुलना में भारत जैसे धार्मिक देश के पिछड़ेपन का मूल कारण उनके विचार में धार्मिक आडम्बर,

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 406

रूढ़ि और सीमाएं आदि थीं । इन सब को सुधारे बिना भारतवर्ष की उन्नति नहीं हो सकेगी । वे धर्म को समाज की उन्नति का मूल मानते हुए विश्वास करते थे कि इस सामाजिक उन्नति के लिए ईश्वर की भक्ति तो की जा सकती है किन्तु किसी काम के लिए उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता । इस लिए धार्मिक स्तर पर व्यापक रूप में भारतीय अस्मिता को तलाशने के कारण वे स्वयं हिन्दू धर्म के वैष्णव होते हुए भी हिन्दू मत के आडम्बर प्रधान आचरण की धज्जी उड़ाते हैं; जैसे "जिस भाव से हिन्दू मत आजचलता है, उस भाव से आगे नहीं चलेगा ।"[1] अर्थात् उन के अस्मिताबोध में अंग्रेजी उपनिवेशवादी तथा प्राच्यविद्यावादी विचारधारा से उत्पन्न भारतीय स्वत्व की संकट ही नहीं, वरन् देश के अन्दर सदियों से चले आते धार्मिक विडम्बनाओं को भी हटाने की कोशिश मिलती है । ताकि बाह्य और आन्तरिक दबावों से नष्ट होने वाली भारतीयता की पहचान तथा उन्नति हो सके ।

धार्मिक संदर्भ में भारतेन्दु के विचारों में एक और अंतर्विरोध मुसलमानों के प्रति दिखाई देता है । भारतेन्दु स्वयं वैष्णव भक्त होते हुए उस समय समाज में प्रचलित धार्मिक साम्प्रदायिकता का विरोध करते थे । पर उनके साहित्य में कई जगहों पर मुसलमान-विरोध स्वर भी सुनाई देते हैं । विशेष कर उनके इस स्वर में अंग्रेजी राज्य के जम जाने पर हिन्दू जनता को मुसलमान बादशाहों और नवाबों के धार्मिक अत्याचार से मुक्ति मिली । इस तरह मुसलमानों के प्रति भारतेन्दु ने जहाँ-तहाँ टिप्पणियाँ की हैं, जो उनके व्यापक-आधुनिक व्यक्तित्व के बावजूद भी आधुनिक प्रगतिशील दृष्टि से मेल नहीं खाती है ।

---

1 भारतेन्दु समग्र, पृ० 1107

मुसलमानों के विरुद्ध भारतेन्दु के अनेक कथनों में से एक तो 'बादशाह दर्पण' की भूमिका में लिखा गया मिलता है -"जो कुछ हो, मुसलमानों की भांति इन्होंने हमारी आंख के सामने हमारी देव मूर्तियां नहीं तोड़ीं और स्त्रियों को बलात्कार से छीन नहीं लिया, न घास की भांति सिर काटे गये और न जबरदस्ती मुंह में थूक कर मुसलमान किये गये । अभागे भारत की यही बहुत है । विशेषकर अंग्रेजों से हम को जैसी शुभ शिक्षा मिली इसके हम उनके ऋणी हैं । भारत कृतघ्न नहीं है । यह सदा मुक्त कण्ठ से स्वीकार करेगा कि अंग्रेजों ने मुसलमानों के कठिन दण्ड से हम को छुड़िया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गये किन्तु पेट भरने की भीख मांगने की विद्या भी सिखा गये ।"[1] अर्थात् भारतेन्दु मुसलमानों के अत्याचार पर जोर देकर विरोध करते हैं । इसलिए वे स्वयं अंग्रेजों का विरोध करते हुए भी अपने रचना-क्रम में अंग्रेजों के स्वागत का मुख्य कारण मुसलमानों के इस कठिन दण्ड से छूटने को बताते थे ।

इस तरह भारतेन्दु यद्यपि मुसलमानों के अत्याचार के विरुद्ध थे, पर धर्म के प्रसंग में वे इस्लाम धर्म के भारत में होने का विरोध नहीं करते थे । इससे आगे वे इस्लाम धर्म के प्रति आदर व्यक्त करते थे । इसलिए अन्यत्र भारतेन्दु का स्वर थोड़ा बदला हुआ दिखाई देता है । वे मुसलमानों को 'भाई' कहकर बताते हैं --"मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बस कर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें ।"[2] जैसे पहले का आक्रोश यहां अमर्ष में बदल गया । इसलिए भारतेन्दु की अपनत्व भरी चिन्ता मुस्लिम समाज के प्रति भी इस रूप में प्रकट है --"जो बात हिन्दुओं के नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 996
2. वही, पृ० 998

प्राप्त है । उन में जाति नहीं, खाने-पीने में चौका-चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक-टोक नहीं, फिर भी बड़े सोच की बात है कि मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा नहीं सुधारी ।'[1]

कहने का मतलब है कि भारतेन्दु अपने आत्म-संघर्ष की प्रक्रिया में मुसलमानों द्वारा भारतवासियों पर अत्याचार का खण्डन करते हुए भी न केवल इस्लाम धर्म के प्रति विरोध नहीं करते, बल्कि मुसलमानों को 'भाई' कहकर आदर व्यक्त करते थे । यही कारण है कि उनके धर्म संबंधी विचार में साम्प्रदायिकता नहीं, वरन् भारत में विद्यमान अनेक धर्मों के सामंजस्य की भावना अधिक देखने को मिलती है । वे वैष्णव होते हुए स्वामी दयानंद की तरह हिन्दू पुनरुत्थानवादी नहीं थे, वरन् वे सब धर्मों के मत को भारत की उन्नति तथा अस्मिता की तलाश में कल्याणकारी समझते थे --

'पूजिहौ देवी कोऊ किन वेद-पुरानहु ऊंचे पुकारौ ।
काहू सों काम कछु नहिं मोहि सबै अपनी अपनी को सम्हारौ ।।
हौं बनिहौं के नसाइहौं यासों यहै प्रन है 'हरिश्चंद्र' हमारौ ।
मानिहौं एक गुपालहि को नहिं और के त्रास को थामे हजारौ ।।'[2]

वे चाहते थे कि भारत में अनेक प्रकार की धार्मिक विविधता के बल पर सभी धर्मों, जातियों तथा सम्प्रदायों के बीच आपस में आदर रखते हुए सामन्जस्य के रूप में देश की उन्नति हो । वे कहते थे --'उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है, उसको आर्य क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 972
2. वही, पृ0 166

वैष्णव, शैव, ब्राह्म, आर्य-समाजी, सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं, इससे ईश्वर्य रूपी मस्त हाथी उन से नहीं बंधता । इन सब डोरी को एक में बांध कर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिग्दिगंत भागने से रुकेगा । अर्थात् अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें ।"[1]

इस कथन से उन का आशय स्पष्ट था कि धार्मिक स्तर पर अनेक धर्मों के लोगों के बीच एकीकरण की वह भावना पैदा हो, जो राजनीतिक स्तर के अलावा सांस्कृतिक, धार्मिक तथा भौगोलिक स्तर पर भी खड़े होने वाली व्यापक अर्थ में भारत की वही राष्ट्रीय अस्मिता बनती है, जिस का चरम रूप उन के बलिया के भाषण के दौरान इस तरह प्रकट हुआ -- "जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है । हिन्दू की सहायता करो । बंगाली, मराट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो ।"[2]

भारतेन्दु जब निज भाषा को 'सब उन्नति' या सर्वतोन्मुखी प्रगति का मूल मानते हैं, तो उन के कथन का अर्थ विस्तृत हो जाता है; स्वदेशी की उन की पूरी अवधारणा, नए उद्योगों के बारे में उन का दृष्टिकोण, नई शिक्षा के प्रति उन का समर्थन, पराधीनता या परनिर्भरता के विरुद्ध उन की चेतावनी, श्रम के प्रति उन का आग्रह, राष्ट्रीय एकता संबंधी उन की अंतर्दृष्टि तथा उपनिवेशवाद और प्राच्यविद्यावाद के विरुद्ध भारतीय संस्कृति की मुक्ति, निजीपन और जनवादी चेतना आदि सब कुछ उन की भाषा-नीति में विद्यमान हैं ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 976
2. वही, प० 1013

मगर भारतेन्दु की भाषा-नीति के अंदर इस विस्तार के कारण कुछ अन्तर्विरोध जैसे विरोधाभास भी देखने को मिलता है । उनमें से आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्तक भारतेन्दु के साहित्य में सब से विडम्बनापूर्ण तथ्य यही माना जाता है कि जो भारतेन्दु `अंधेर नगरी` जैसा व्यंग्यार्थ सम्पन्न कसा हुआ नाटक खड़ी बोली में लिख सके, जिसे प्रस्तुत करने में आज के निर्देशकों को नई चुनौती और स्फूर्ति मिलती है, वही भारतेन्दु खड़ी बोली में कवि कर्म कठिन मानते हैं तथा उसे एक तरह से असंभव मानते हैं । यानी वे कविता लिखते थे, ब्रजभाषा में और गद्य सारा का सारा खड़ी बोली हिन्दी में ।

यद्यपि भारतेन्दु ब्रजभाषा में अधिकांश कविता लिखते थे, फिर भी उन्हें अतिवादी मानना अथवा आधुनिक रचनाकार न कहना उचित नहीं होगा । क्योंकि अधिकांश कविता ब्रजभाषा में लिखते हुए भी वे खड़ी बोली हिन्दी को साहित्य की भाषा मानते थे तथा नये युग के अनुकूल नये विचार तथा चेतना को प्रकट करने में उसे अधिक उचितमानते थे । साहित्य-भाषा के प्रति इस नवीन चेतना के कारण वे गद्य के अलावा कविता में भी युगानुकूल उत्पन्न सामाजिक समस्याओं से संबंधित विषयों पर काव्य-रचना करते थे । पर वे इन प्रयत्नों के बावजूद अंतः खड़ी बोली हिन्दी में काव्य-रचना असंभव समझ कर बड़ी ईमानदारी से स्वीकार कर लेते हैं -"मैं ने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ, पर मेरे चित्तानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रज भाषा ही में कविता करना उचित होता है ।"[1]

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 31, 32

देखने की बात यह है कि युगीन सीमा के कारण यद्यपि भारतेन्दु ब्रजभाषा में कविता लिखते थे, फिर भी उन पर विशिष्टतावाद का आतंक नहीं है । उच्च कोटि के साहित्य को जनपदीय साहित्य से जोड़ कर देखना उन्हें सहज स्वाभाविक लगता है । इस तरह उन की जनवादी चेतना का परिणाम 'जातीय संगीत' में स्पष्टत: प्रकट हुआ -- "भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं, उन में एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है । इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं ; किन्तु वे जनसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते । इसके हेतु मैं ने सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गांव-गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जायें । यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, वह सार्वदेशिक होगा ।"[1] इस तरह साहित्य को जन-जीवन से जोड़ने के कारण भारतेन्दु टैक्स, अकाल, महामारी, बेरोजगारी जैसी जन-जीवन से संबंधित विषयों पर कविता लिखने में झिझकते नहीं थे - अर्थात् वे काव्य विषयों पर कोई रूढ़ि नहीं स्वीकार कर केवल खड़ी बोली के ढांचे में कविता असंभव समझते थे ।

भारतेन्दु इस तरह खड़ी बोली हिन्दी को निज-भाषा समझकर प्राच्यविद्यावाद के विरुद्ध उपनिवेशवादी शासन के फैलाव के उपाय के रूप में नहीं, वरन् भारत की निज भाषा के माध्यम से साहित्य का विकास करना चाहते थे और इस साहित्य द्वारा भारतीय जनता के बीच अस्मिताबोध बढ़ाने का प्रयत्न करते थे । पर इस के बावजूद अंतत: वे खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखने में असफल रहे । इसका कारण अगर देखा जाय, तो यह होगा कि हिन्दी गद्य की कोई परंपरा भारतेन्दु के समय तक नहीं होने से भारतेन्दु के लिए उस को अपनाने में किसी प्रयास

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ0 1028

की सांस्कृतिक रुकावट नहीं आती । पर पद्य की इतनी लंबी और समृद्ध परंपरा को एक बार भी छोड़ देना अस्वाभाविक था । इसलिए इसको भारतेन्दु के अंदर अन्तर्विरोध नहीं, युगानुकूल पैदा हुई साहित्यिक सीमा माननी होगी । यानी खड़ी बोली हिन्दी कविता भारतेन्दु के समय तक प्रौढ़ नहीं हो पायी थी ।

मगर भारतेन्दु गद्य की रचना सारी की सारी खड़ी बोली में करते हुए अपने समय में संभाव्य सभी गद्य-रूपों का प्रयोग करते थे - नाटक, एक अधूरा उपन्यास, आत्मकथा, निबन्ध, समीक्षा, पत्रकारिता आदि । तथा जनवादी साहित्यकार होने से यद्यपि एक तरह उन के गद्य साहित्य की भाषा सामान्य जनता के बीच बोली जाने वाली खड़ी बोली हिन्दी बन सकी, तो दूसरी तरह उन के गद्य साहित्य का केन्द्र नाटक ही बन सका, जो नवजागरण चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए भारतेन्दु का सजग चुनाव था । यानी उन्होंने नाटक और रंगमंच को अभिन्न मान कर साहित्य को जनता के पास अधिक निकट पहुंचा दिया।तथा स्रोत के लिए वे मूल नाटक के अलावा संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी आदि स्रोतों से नाटकों के अनुवाद भी करते थे । और विषय में भी सामाजिक समस्या, अंग्रेज राज का खण्डन, धर्म सम्बन्धी, ऐतिहासिक और राष्ट्रीयता आदि को लेते थे ।

इसलिए भारतेन्दु के साहित्य में गद्य और पद्य की भाषा में असमानता - अर्थात् ब्रज भाषा कविता और खड़ी बोली गद्य - को ले कर उन की भाषा-नीति में अन्तर्विरोध समझना उचित नहीं होगा । क्योंकि इन सब के साथ भारतेन्दु टकराते हुए विकास की और सामंजस्य करते थे । इस के परिणामस्वरूप उन्होंने हिन्दी साहित्य को वही नयी दिशा दिखाई, जिस से हिन्दी साहित्य प्राच्यविद्यावादी विचारधारा

के अंदर उपनिवेशवादी शासन के फैलाव के लिए भारत की जानकारी देने वाले नहीं, वरन् सही अर्थ में साहित्य का विकास और उसके द्वारा भारतीय अस्मिताबोध का निर्माण हो सके ।

इस तरह यदि खड़ी बोली हिन्दी से संबंधित भाषा-नीति तथा साहित्य के प्रति नये विचार और दृष्टिकोण में भारतेन्दु के भारतीय अस्मिताबोध, आधुनिकता और जनवादी चेतना आदि स्पष्टत: देख सकें, तो उन की राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में उर्दू भाषा को लेकर फिर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है । नवजागरण के दौरान खड़ी बोली हिन्दी भाषा के प्रति उन की भाषा-नीति में एक मुख्य प्रतिज्ञा यह थी कि खड़ी बोली हिन्दी से समूचे भारतीय जाति की एकांतिक भावना का निरसन करके उसे एक समाज अथवा राष्ट्र के रूप में गठित किया जाय । पर खड़ी बोली हिन्दी से संबद्ध भाषा के स्तर पर इस एकांतिक आकांक्षा के कारण नवजागरण के दौरान मुख्यत: हिन्दी-उर्दू के बीच तनाव भी पैदा हुआ ।

इस संश्लिष्ट युग के अंदर विरोधाभासों से संघर्ष करते हुए भारतेन्दु अपना विचार स्पष्टत: दिखाते थे ;

> "विविध कला, शिक्षा, अमित ज्ञान अनेक प्रकार ।
> सब देसन से ले कर हूं, भाषा माहिं प्रचार ।।"[1]

अर्थात् वे उर्दू के अलावा भारत में बोली जाने वाली जितनी भारतीय भाषाएं हैं, उन का विरोध नहीं करते । भाषा के प्रति इस व्यापक चेतना के

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 229

कारण वे भारत में उर्दू भाषा होने का विरोध नहीं करते, वरन् उर्दू भाषा के अन्दर भारत के जातीय संगठन में बाधा डालने वाले अरबी-फारसी बहुल उर्दू-ए-मुअल्ला से उन्हें चिढ़ थी तथा इसके कारण वे उर्दू भाषा के भारत की राष्ट्र-भाषा बनने का विरोध करते थे । उन के विचार में जब तक उर्दू पर विदेशी भाषाओं के शब्द-समूह का लदाव होगा, यह समस्या - हिन्दी-उर्दू की समस्या - बनी रहेगी और हिन्दी प्रदेश के अलावा संपूर्ण भारतवर्ष की जातीय एकता में विघ्न पड़ता रहेगा। इसलिए वे चाहते थे कि सदियों से जनता के बीच बोली जाती खड़ी बोली हिन्दी से ही राष्ट्रीय एकता की भावना प्रौढ़ हो सके तथा इस जनता की निज भाषा की उन्नति से राष्ट्र की उन्नति भी हो सके :

भारत में सब भिन्न अति ताही सों उत्पात ।
विविध देस मत हूं भाषा विविध लखात ।।
पढ़हु पढ़ावहु लिखहु मिलि छपवावहु कछु पत्र ।
बैर विरोधहि छोड़ि कै एक जीव सब होय ।
करहु जतन उद्धार को मिलि भाई सब कोय ।।
फूट बैर को दूर करि बांधि कमर मजबूत ।
भारत माता के सभी भ्राता पूत सपूत ।।
बिना एक जिय के भये चलिहै अब नहिं काम ।
तासों कोरो ज्ञान तजि उठहु छोड़ि बिसराम।।
बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास ।
तनहु न छाड़त याहि सब बंधे मोह के फांस ।।
छोड़हु स्वारथ बात सब उठहु एक चित्त होय ।
मिलहु कमर कसु भ्रात गन पाठहु सुख-दुख सोय ।।

निज भाषा, निज धरम, निज मान-करम-व्यौहार ।
सबै बढ़ावहु मेलि मिलि कहत पुकार-पुकार ।।[1]

भारतेन्दु की भाषा-नीति में एक और सोचने की बात अंग्रेजी भाषा सम्बन्धी है । उनके शब्दों में --

"अंग्रेजी पढ़िके जदपि सब गुन होत प्रवीन ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन-के-हीन ।।"[2]

आम तौर पर भारतेन्दु की भाषा-नीति में कुछ लोग इस बिन्दु पर अन्तर्विरोध खोज लेते हैं । पर भारतेन्दु अंग्रेजी भाषा के प्रति भी अपना मत स्पष्टत: बताते थे । जैसे वे अंग्रेजी भाषा के सहारे आधुनिक-वैज्ञानिक नवशिक्षा-प्रणाली का समर्थन करते थे -"विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है । ... देश-विदेश से नयी-नयी विद्या और कारीगरी आयी ।"[3] तथा "सब विद्या के ग्रन्थ अंगरेजिन माँह लखहिं । तार, रेल, आर्टिलरी, वस्त्र उद्योग, सैन्य कौशल, जल बांध, इंजीनियरी, फोटोग्राफी आदि की टैकनौलाजी - यह सब अंग्रेजी पढ़े बिनु नहिं जान्यो जात ।"[4] इस प्रसंग में वे अंग्रेजी भाषा के भारतीय भाषा बनने का विरोध नहीं करते ।

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 229
2. वही, पृ० 228
3. वही, पृ० 1048
4. वही, पृ० 1048

मगर भारतेन्दु इस बात के लिए चिन्तित थे कि 'परन्तु अब अंग्रेजी पाया फूल और घात दृष्टि में आने लगा क्योंकि हम लोगों को केवल अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई परन्तु कला-कौशल के विषय में हम लोग भली भांति अज्ञान सागर में निमग्न हुए हैं, इसमें संदेह नहीं।'[1] अर्थात् भारतेन्दु अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भौतिक, वैज्ञानिक तथा बौद्धिक स्तर पर समाज और देश की उन्नति चाहते हुए भी अंग्रेजी भाषा और संस्कृति का दास बनने पर चिन्तित थे। वे अपनी निज भाषा में भारतीय अस्मिता की रक्षा और खोज करते थे। उन की इस भाषा-नीति में न केवल राष्ट्रीय भावना है, बल्कि अंग्रेजों द्वारा दिया गया प्राच्यविद्या-वाद से मुक्त होकर अपने स्वत्व की उन्नति की भावना भी दिखाई देती है।

समग्र रूप में उन्नीसवीं शताब्दी में परिवर्तनशील युग के संश्लिष्ट वातावरण के कारण भारतेन्दु के आत्म-संघर्ष में अन्तर्विरोध कभी-कभी मिले-जुले सामंजस्य के रूप में दिखाई देता था और बहुत कुछ द्वन्द्व के रूप में भी दिखाई देता था। इसलिए इन अन्तर्विरोधों के बीच आपस में सामंजस्य से अधिक द्वन्द्वात्मक संबंध ज्यादा बने हुए दिखाई देते थे; अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के अन्तर्गत देश-भक्ति के साथ राष्ट्र-भक्ति भावना भी समाज में विद्यमान थी। तथा अधिकांश साहित्यकार और बुद्धि-जीवी लोग धार्मिक होते हुए भी आधुनिक जागृत चेतना अर्थात् सुधारवादी विचारधारा से धर्म के आडम्बर का विरोध भी करते थे। साहित्य में कविता में ब्रज भाषा के प्रयोक्ता थे, गद्य में खड़ी बोली के, आदि-आदि। ये अन्तर्विरोध भारतीय समाज - विशेषकर हिन्दी भाषी प्रदेशों में

---

1. भारतेन्दु समग्र, पृ० 1049

अधिक दिखाई देते थे । और इन अन्तर्विरोधों के समावेश का नाम था 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' ।

मगर अभी तक हमने देखा कि यद्यपि भारतेन्दु अपने संपूर्ण रचना-क्रम में राजभक्ति और देश-भक्ति के द्वन्द्व, वैष्णवता और धर्म-सुधार-वाद, अतीत गौरव युक्त भारतीयता और आधुनिकता, दरबारी संस्कृति और जन-संस्कृति के द्वन्द्व आदि से गुजर रहे थे । फिर भी इन सब के साथ उपनिवेशवादी ढाचे के अंतर्गत उत्पन्न अस्मिताबोध से संबंधित स्वाधीनता की उन की आकांक्षा में आर्थिक स्वाधीनता, राजनीतिक स्वाधीनता और भाषा की मुक्ति के प्रश्न अलग-अलग नहीं, वरन् एक-दूसरे से सम्बद्ध हुए दिखाए गये हैं । तथा इन सब के मूल में यद्यपि भारतेन्दु अपने किसी कविता या कथन में सीधे शब्दों में प्राच्य विद्यावाद का विरोध नहीं प्रकट करते थे, फिर भी उन के सारे रचना-क्रम में जाने-अनजाने भारतीय अस्मिताबोध के लिए प्राच्यविद्यावाद से संघर्ष परिलक्षित है ।

इस तरह नवजागरण के दौरान युगीन समाज के अंदर अंतर्विरोधों तथा प्राच्यविद्यावादी विचारधारा से संघर्ष करते हुए भारतेन्दु की आधुनिक हिन्दी साहित्य में सार्थकता के अनेक पहलू बने हैं ; शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, कला, धर्म, उद्योग, रंगमंच, स्वदेशी के उपयोग आदि अनेक संदर्भों के बारे में अपने दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए भारतेन्दु ने जिस परंपरा की नींव रखी है, उसमें आधुनिक दृष्टि और गहरे अर्थ में भारतीय दृष्टि का संबंध या संतुलन मौजूद है । उन के अन्तर्विरोधों के बीच आत्म-संघर्ष के सिलसिले में संतुलित इस संबंध से ही उनकी उसी अस्मिताबोध की मूल चेतना प्रकट हुई है, जिस से संपूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु की महत्वपूर्ण सार्थकता तथा आज के जमाने में भी प्रासंगिकता बनती है ।

उपसंहार

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र यथार्थत: भारतीय नवजागरण की सब से उन्नत लहर के साथ जुड़े हुए और उसे आगे बढ़ाने वाले रचनाकार थे । हिन्दी नवजागरण के दौर में समाज की जिन मध्यकालीन रूढ़ियों के खिलाफ मुहिम शुरू हुई, दकियानूसी से देशवासियों को उबारते हुए आधुनिक जीवन की जिन नयी दिशाओं की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया, राष्ट्रीय अस्मिता के जिन जायज संदर्भों के प्रति भारतीयों को सजग किया गया तथा जिस व्यापक दृष्टि को सामान्य जनता के सामने रखते हुए उन्हें संकीर्ण राष्ट्रवाद के दायरे से निकाल कर उन्नत मानवीय जीवन की ओर प्रेरित किया गया, भारतेन्दु ने इन सब बातों के साथअपनी निकट की हिस्सेदारी सूचित करके आधुनिक हिन्दी साहित्य की लहर चला दी ।

आधुनिकीकरण के दौरान उत्पन्न जागृत चेतना से और उससे प्रेरित समाज सुधारवाद तथा इससे विकसित राष्ट्रीयता के विकास क्रम में आत्म-संघर्ष करते हुए भारतेन्दु ने जिस निष्ठा और लगन का परिचय दिया, सामन्ती मानसिकता तथा दरबारी संस्कृति के संस्कारों से संघर्ष करते हुए साधारण जन जीवन से जिस प्रकार नये अनुभवों की आंच में अपने व्यक्तित्व को निखारा, वह सब उन के महान कर्तृत्व का उदाहरण है । इन के परिणामस्वरूप उन्हें सही अर्थ में आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवर्तक तथा उसका शिखर पुरुष कहा जाता है ।

साहित्य में यह जागृत चेतना लाकर सांस्कृतिक नवजागरण के अंदर संपूर्ण भारतीय अस्मिता की तलाश में भारतेन्दु ने साहित्य को

सामान्य जनता से जोड़ा । और उससे विकसित राष्ट्रीय जागरण में भारतेन्दु का चिन्तन समग्र चिन्तन के रूप में प्रकट हुआ है । इसके परिणामत: हिन्दी नवजागरण के दौरान भारतेन्दु के साहित्य में अंग्रेजी राज की चुनौती राजनीति से अधिक सांस्कृतिक और देश-उन्नति-परक है । भारतीय अस्मिता की रक्षा के लिए उपनिवेशवादी शासन से राजनीतिक स्वाधीनता- प्राप्ति के अलावा उसके मूल में निहित प्राच्यविद्यावादी विचारधारा अर्थात् उससे प्रेरित सांस्कृतिक उपनिवेशवाद से जो आत्म-संघर्ष प्रकट हुआ, उसके द्वारा भारतेन्दु ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास क्रम में वह नयी परंपरा चलायी, जो आगे चल कर महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद तथा निराला आदि से होते हुए प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन तक पहुंचती है । और वही परंपरा आजकल पहले से अधिक सजग तथा सशक्त होकर हमारे सामने नयी चुनौती के रूप में खड़ी है ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(क) हिन्दी पुस्तकें

1. स0 हेमन्त शर्मा — 'भारतेन्दु समग्र ' प्रचारक ग्रन्थावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान, 1989
2. रामविलास शर्मा — 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नव-जागरण की समस्याएं ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984
3. रामविलास शर्मा — 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव-जागरण', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977
4. बच्चन सिंह — 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद,1986
5. राजेन्द्र प्रसाद तिवारी — 'भारतीयता और हिन्दी कविता', विभूति प्रकाशन, दिल्ली, 1989
6. रवीन्द्रनाथ ठाकुर — 'गोरा', साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1989
7. सुकुमार सेन — 'बंगला साहित्य का इतिहास', साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1978
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी — 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991
9. रामविलास शर्मा — 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975
10. पूरनचन्द्र जोशी — 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम', राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,1987

11. आनंद वास्कर — "हिन्दी साहित्य में दलित चेतना", विद्या विहार, कानपुर, 1986

12. विद्यानाथ गुप्त — "हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना", भारती साहित्य मन्दिर, इलाहाबाद, 1987

13. सं० शम्भुनाथ — "भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण", अनेवाला कल प्रकाशन, कलकत्ता, 1986

14. स० अभयकुमार दुबे — "साम्प्रदायिकता के स्रोत", विनय प्रकाशन, दिल्ली, 1993

15. मदनमोहन जावलिया — "हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में आर्य समाज की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान", अर्चना प्रकाशन, अजमेर, 1991

16. रामचन्द्र शुक्ल — "हिन्दी साहित्य का इतिहास", नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत 2045

17. मंजुला दास — "प्रसादोत्तर नाटक में राष्ट्रीय चेतना", पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1989

18. शुभ लक्ष्मी — "आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय चेतना", नचिकेता प्रकाशन, दिल्ली, 1986

19. कृष्ण कुमार — "राज समाज और शिक्षा", राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990

20. सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय तथा दिनेश नारायण उपाध्याय — "प्रेमघन सर्वस्व", हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता, संवत 1996

21. "दयानंद ग्रन्थमाला", — भाग 1, परोपकारिणी सभा, दयानंद आश्रम, अजमेर, 1983

22. "दयानंद ग्रन्थमाला" — भाग 2, परोपकारिणी सभा, दयानंद आश्रम, अजमेर, 1983

23. हजारीप्रसाद द्विवेदी — 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', नवीन शाहदरा प्रकाशन, दिल्ली, 1979

24. हजारीप्रसाद द्विवेदी — 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988

25. नगेन्द्र — 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977

26. मैनेजर पाण्डेय — 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', हरियाणा साहित्य अकादेमी, चण्डीगढ़, 1989

27. गायत्री वैश्य — 'आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज', रंजन प्रकाशन, आगरा, 1977

28. रामधारीसिंह दिनकर — 'संस्कृति के चार अध्याय', लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990

29. चन्द्रभानु सीताराम सोनेवणे — 'भारतेन्दु के विचार : एक पुनर्विवाद', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1977

30. श्यामाचरण दुबे — 'परंपरा इतिहास-बोध और संस्कृति', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991

31. राजेश सत्यव्रत शास्त्री — 'महर्षि दयानंद के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप', साहित्यकार प्रेस, मेरठ, 1989

32. सं० धीरेन्द्र वर्मा — 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग 1, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् 2020

(ख) अंग्रेजी पुस्तकें

1. सुधीर चंद्र — "दि ओप्प्रेसिव प्रजेन्ट", ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस, 1992
2. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय — "दि कनस्ट्रक्शन ऑफ़ कम्युनलिज़्म इन कोलोनियल नार्थ इंडिया", ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस, 1990
3. केनेथ डब्ल्यू जोन्स — "आर्य धर्म", मनोहर प्रकाशन, 1976
4. केनेथ डब्ल्यू जोन्स — "दि न्यू कैम्ब्रिज हिस्टोरी ऑफ़ इंडिया", ओरिएण्ट लॅंग्मैन, 1989
5. सं० ज्ञानेन्द्र पाण्डेय — "हिन्दुज एण्ड अदर्स", वाइकिंग्, पेंग्विन इंडिया, 1993
6. राजमोहन गांधी — "अन्डरस्टैण्डिंग दि मुस्लिम माइन्ड", पेंग्विन, 1988
7. बिपन चन्द्र — "एसेज ऑन इंडियन नेशनलिज़्म", हर आनंद पब्लिकेशन्स, 1993
8. ए० टि० एम्ब्री — "रिलिजन एन्ड नेशनलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया", ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस, 1992
9. कृष्ण कुमार — "पोलीटिकल एजेन्डा ऑफ़ एजूकेशन", सेज पब्लिकेशन्स्, 1991
10. फ्रांसिस रोबिन्सन् — "सेपरेटिज़्म अमंग इंडियन मुस्लिम्स", ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस, 1993
11. जॉन स्टुअर्ट मिल — "रैप्रेजेन्टेटिव गवर्मेन्ट", साउथ बेन्ड आई०एन० गेटवे एडिशन्स लि०, 1962

12. सं० सि० ए० ब्रेक्केरिन्ज एन्ड पिटर वन डेर विर — 'ओरिएन्टलिज़्म एन्ड दि पोस्ट-कोलोनियल प्रेडिकमेण्ट', ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस, 1994

(ग) पत्र-पत्रिकाएं

1. सं० नामवर सिंह — 'आलोचना', अक्तूबर-दिसंबर, 1986 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

2. सं० नामवर सिंह — 'आलोचना', जुलाई-सितंबर, 1987 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

3. सं० नामवर सिंह — 'आलोचना', अप्रैल-जून, 1990 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

4. सं० राजेन्द्र यादव — 'हंस', दिसम्बर, 1991 अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

5. सं० राजेन्द्र यादव — 'हंस', अप्रैल, 1992 अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

6. सं० दि० एस० राओ — 'इंडियन लिटरेचर', सितम्बर-अक्तूबर, 1992 साहित्य अकादमी, नई दिल्ली

000